Chap-5

पंचम अध्याय

"साठोत्तरी हिन्दी कथा–साहित्य की भूमिका में– डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की प्रमुख कृतियों के वैचारिक आयाम

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में एक बहुत बड़ा वैचारिक परिवर्तन आया, जिसमें परामूल्यों को परिवर्तित करके काल सापेक्ष नीतियों एवं अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में कुछ नया कहने का यत्न किया। स्वतन्त्रता तक या स्वतन्त्रता के बाद पाँचवे दशक तक कहानियाँ राष्ट्रीयता से सम्पृक्त तथा विभाजन की विभिषिकाओं से संलग्न दृष्टिगत होती है। देश के विभाजन को लेकर भारतीय साहित्य में वस्तुगत विवेचन तो नहीं हुआ, किन्तु सम्वेदना के स्तर पर मानवीय व्यथाओ को जरुर दर्शाया गया है । देश - विभाजन की पीड़ा से संत्रस्त लगभग पचास उपन्यास ऐसे हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में स्वतंत्रता संग्राम की दर्दनाक तस्वीर नजर आती है । वैसे तो विभाजन का प्रत्यक्ष प्रभाव बंगाल ओर पंजाब पर पड़ा था , इसीलिए बंगला और पंजाबी साहित्य में यह पीड़ा अधिक मुखर हुई है।

"बंगाल क्षेत्र में बंगला ही साहित्य सृजन की एकमात्र भाषा थी, अतः अधिकांश साहित्य बंगला में रचा गया । पंजाब क्षेत्र में साहित्य सृजन उर्दू, पंजाबी, हिन्दी व अँग्रेजी चारों ही भाषाओं में होता था, इसलिए इस क्षेत्र से सम्बन्धित लेखकों ने चार भाषाओ में रचनाएँ कीं ।

विभाजन से सम्बन्धित हिन्दी उपन्यास तीन तरह के है - (१) सामान्य श्रेणी के सतही उपन्यास, (२) विषय व कला दोनो स्तर पर उच्चकोटि के उपन्यास, (३) साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखे गए उपन्यास । तीसरी श्रेणी के उपन्यास आम तौर पर साहित्यिक कोटि के उपन्यास नहीं माने जाते, लेकिन इन उपन्यासों की प्रसार संख्या साहित्यिक श्रेणी के उपन्यासों से ज्यादा है। इनमें गुरुदत्त व कुछ अन्य लेखकों के उपन्यास शामिल हैं। गुरुदत्त ने विभाजन को आधार बनाकर कई उपन्यास रचे हैं, जिनमें 'देश की हत्या' अपने शीर्षक से ही विषय की सूचना दे देता है। गुरुदत्त के उपन्यासों में उग्र हिन्दू साम्प्रदायिकता का प्रचार हुआ है, व मुस्लिम धर्मावलम्बियों के प्रति विद्वेष फैलाया गया है। मुसलमानों को इस देश का अंग ही नहीं माना गया है। इस तर्क से तो देश का विभाजन होना ही सम्भव था, फिर लेखक उसे देश की हत्या क्यों कहता है ?"[1]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सन् साठ तक हिन्दी कथा-साहित्य का ध्यान सांप्रदायिक संघर्ष, शरणार्थी संस्कृति और विभाजन से उत्पन्न जातिगत विद्वेषी भावनाओं पर आधारित था। अनेक कथाकारों ने इस सन्दर्भ में परिस्थितियों का वस्तुगत विवरण प्रस्तुत करते हुए आम आदमी का ध्यान आकर्षित किया है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, मोहन राकेश, कृष्णचन्दर, शमशेरसिंह नरुला, रघुवीरशरण मिश्र, मन्मथनाथ गुप्त आदि की कृतियाँ इन विषयों को रेखांकित करती हैं। इस काल में साम्प्रदायिक मुद्दे से जुड़ी कृतियाँ विशेष लोकप्रिय हुई किन्तु लक्ष्य उनका भी बँटवारे से व्याप्त विषम परिस्थितियों की ओर लगा रहा।

"इस प्रकार प्रासंगिक रुप से जिन लेखकों व उपन्यासकारों में विभाजन का सन्दर्भ है, उनमें ओंकार राही कृत शवयात्रा; उषादेवी मित्रा कृत नष्टनीड़; उषाबाला कृत कुंती के बेटे; प्रमोद बंसल कृत अन्धे युग के बुत; प्रतापनारायण श्रीवास्तव कृत बयालीस; भगवतीचरण वर्मा; भैरवप्रसाद गुप्त; फणीश्वरनाथ 'रेणु' के कुछ उपन्यासों, विष्णु प्रभाकर के टटके के बन्धन व निशिकांत; बलबीर त्यागी कृत तुफान के उस पार; रामेश्वर शुक्ल अंचल कृत नई इमारत आदि शामिल हैं। जगदीशचन्द्र के मुट्ठी भर कांकर में विभाजन के बाद शरणार्थी विस्थापन व

पुनर्स्थापन की कथा कही गई है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के विभाजन से संदर्भित कुछ कृतियों में गहन मानवीय सम्वेदनाओं और वैचारिक उलझनों को दर्शाया गया है। इनमें यशपाल शर्मा कृत झूठा-सच विशेष महत्वपूर्ण है। जिसमें विभाजन के बाद पलायन और विस्थापन की समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। 'भीष्म साहनी' कृत 'तमस' में आतंक और भय के बीच सांप्रदायिक तनाव की विभिषिकाओं को रेखांकित किया गया है। इसी तरह 'रामानंद सागर' कृत 'और इन्सान मर गया'; 'शमशेर सिंह नरुला' कृत एक 'पंखुड़ी की तेज धार'; 'बलवंतसिंह' कृत 'काले कोस'; 'बदीउज्जमां' कृत 'छापों की वापसी'; 'कमलेश्वर' कृत लौटे हुए मुसाफिर' आदि अनेक ऐसे उपन्यास हैं। विभाजन का कारण जिसमें साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद को बतलाया गया है। 'यशपाल' के उपन्यास 'झूठा-सच' में विभाजन के अधिकांश पहलू पर गहरी नजर डाली गई है, 1958 मेंइसका पहला भाग 'वतन और देश' मुद्रित हुआ था, जिसमें मुस्लिम साम्प्रदायिकता से सम्पृक्त बढ़ते हुए संकीर्णता के ज़हर को राजनीतिक माहौल में प्रसरित होने की सम्भावनाओं को व्यक्त किया गया है। इसमें तारा तथा बंती महिलाओं के ऊपर हुए बलात्कार के प्रसंग और तज्जन्य सामाजिक उन्माद को बड़े ही प्रभावक ढंग से व्यक्त किया गया है।

'झूठा-सच' का दूसरा भाग 'देश का भविष्य' नाम से 1960 में प्रकाशित हुआ, जिसमें दिल्ली और जालंधर को केन्द्र में रखकर विस्थापन की समस्या को उभारा गया तथा राजनैतिक भ्रष्टाचार की विभिषिका को दर्शाया गया। वैसे, यशपाल के 'झूठा-सच' में झूठ कम और सच ज्यादा है, अथवा कहा जा सकता है कि इसमें विभाजन के समय हुए विप्लव और अव्यवस्था का प्रामाणिक एवम् जीवन्त चित्रण किया गया है, जबकि 'भीष्म साहनी' के 'तमस' में साम्प्रदायिक तनाव के सिलसिले को कथांकित किया गया है।

इसी प्रसंग में विभाजन के दर्द को उकेरता हुआ 'राही मासूम रज़ा' का 'आधा गाँव' सामने आता है, जहाँ उत्तरप्रदेश के गॉव गंगोली के मुस्लिम स्वयं को पाकिस्तान या हिन्दुस्तान में विस्थापित करे इस मनोद्वंद को लेकर उलझे हुए दिखाई देते हैं। 'कमलेश्वर' का 'लौटे हुए मुसाफिर' तथा 'बदीउज्जमॉ' का 'छापों की वापसी' में मुसलमानों के द्वारा अपनी धरती छोड़ने के दर्द को रेखांकित किया गया है। सन् 60 तक आते-आते यह विभाजन का तनाव जैसे कुछ कम हो गया, लेकिन हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष का उन्माद हिन्दी कथाओं में अब भी चर्चित था। सन् साठ के बाद सर्जित उपन्यासों में राजनीतिक व्यवस्थापन, सामाजिक सद्भाव और विश्वशांति के लिए जो नारे गढ़े गए, उनके तहत साम्प्रदायिक व लगाव और जाति धर्मगत दूरियों को लेकर कथाएँ सर्जित हुई। बँटवारे का दर्द कुछ कम हुआ, लेकिन अवर्ण और सवर्ण का द्वंद राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण बन गया। चुनावों के मुद्दे को लेकर 'वोट बैंक' स्थापित होने लगे। राजनीतिक क्षेत्र में पद-लोलुप तथाकथित नेताओं के द्वारा निजी स्वार्थ के लिए वर्गवाद और जातिवाद को उभारा गया। दलगत राजनीति वर्णगत खेमों में बँट गई और आदमी या तो शोषित कहलाया या फिर शोषक। हिन्दी कथा-साहित्य में सर्वहारा वर्ग का संत्रास, दलित चेतना, वर्ण-भेद, दमन, शोषण, अनीति, अन्याय आदि मुद्दों को लेकर साहित्य के मानदंड स्थापित किए। सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति रखने वाले साहित्यकारों के द्वारा दलित साहित्य के नाम पर इन्हीं पिछड़े वर्गों की हिमायत की जाने लगी और इन्हें किसी विशिष्ट मंच पर एकत्र करके अपने स्वार्थ में भिड़ाने की साजिश भी की जाने लगी। हिन्दी का नवागन्तुक कथाकार इस नए रुझान की ओर अग्रसर हुआ और वह भी शोषण, दमन, संत्रास सर्वहारा आदि संज्ञायित नारों से जुड़कर इस भीड में अपने वजूद को खोने लगा।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि सन् 60 के बाद में कुछ ही तथाकथित कथाकार सामने आए, लेकिन अधिकांश कहानीकार साठ के पूर्ववर्ती रचनाकार ही रहे हैं। साठोत्तर कथा-साहित्य वस्तुतः भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार अव्यवस्था, असुरक्षा और असंतुलन के किस्सों से जुडकर सामने आता है।

साठोत्तर कथा-शिल्पियों में कुछ महिला कथा-लेखिकाओं का प्रभाव भी सामने आया, जिनमें सत्यवती मलिक, कमला चौधरी, चन्द्रकिरण सोनरेवशा, होमवती देवी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, कंचनलता सब्बरवाल, रजनी पणिक्कर, सोमवीरी, शिवानी, शशिप्रभा शास्त्री, विजय चौहाण, कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा, मन्नू भंडारी आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने हिन्दी की साठोत्तर कथा सर्जना में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई।

साठोत्तर कथा-साहित्य में दलित-चेतना का स्वर एक आन्दोलन के रुप में उबरा और परिमाण में अधिक न होने के बावजूद सम्वाद और चर्चाओं में अधिक प्रमुख रहा है। विशेषकर के सवर्णो के प्रति एक सामान्य आक्रोश तथा पिछड़े वर्ग की निम्न जातियों के प्रति एक सहज सहानुभूति तथा समर्थन का स्वर सर्वत्र उभारा गया है। वस्तुतः इस तथाकथित दलित नाम से संज्ञायित साहित्य का प्रारम्भ तो प्रेमचन्द से ही हो गया था। दलित साहित्य जिस पृष्ठभूमि पर पल्लवित हुआ है, उस दृष्टि से - "प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कथाकार हैं जो दलित पात्रों के जरिए दलितों की कथा-व्यथा कहते हैं। वैसे भी बेशक किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हों, किन्तु हिन्दी कथा-साहित्य को एक दिशा और गति प्रेमचन्द ने ही दी और हिन्दी कथाकारों में निर्विवाद रुप से उनका नाम सबसे ऊपर आता है। किन्तु उनके कहानी-उपन्यासों में भी दलित पात्र प्रायः अपना दुखडा ही रोते नजर आते हैं; अपने अधिकारों की बात वे नहीं कर पाते हैं। अर्थात् दलितों के अधिकारों के प्रति सजगता और समर्थन प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में भी बहुत कम देखने को मिलता है। प्रेमचन्द गाँधी के समकालीन और उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। राजनीति के क्षेत्र में जो हैसियत गाँधी की थी, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कमोबेश वही हैसियत प्रेमचन्द की थी। प्रेमचन्द ने कई उपन्यास और कई सौ कहानियाँ लिखीं। दलित जीवन पर भी कई रचनाएँ उन्होंने लिखी हैं। 'रंगभूमि' उपन्यास का नायक सूरदास चमार है। वह जन्म से अन्धा है, लोगों की दया पर उसकी आजीविका चलती है। 'कायाकल्प' में एक समुदाय के रुप में दलित पात्र आए हैं, जो ठाकुर हरिसेवक द्वारा अमानुषिक अत्याचार के शिकार होते हैं। इन दोनों उपन्यासों के पात्र दीन-हीन हैं। 'कर्मभूमि' में गूदड़

चौधरी चमार है। विषमता के प्रति उसके मन में असन्तोष है, किन्तु उसका असन्तोष कोई विस्फोट नहीं करता। 'गोदान' की सिलिया चमारी का मातादीन पंडित दैहिक शोषण करता है। उसे एक वच्चे की मॉ भी बना देता है, किन्तु उसे अपनाता नहीं है। वह उसे रखैल बनाकर रखता है, किन्तु पत्नी बनाकर अपने घर नहीं ले जाता है। प्रेमचन्द ने एक समाधान दिया है कि चमार मातादीन को पकड़ लेते हैं, और यह कहकर कि 'तुम हमें अपना धर्म नहीं दे सकते तो हम तुम्हें अपना धर्म देते हैं' एक हड्डी उसके मुँह में ठूंस देते हैं। यह एक ब्राह्मण का शूद्रीकरण है जो शुद्धीकरण के बाद फिर से ब्राह्मण बन जाता है। किन्तु सिलिया चमारी की स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ? उसको एक ब्राह्मण की पत्नी के रुप में स्वीकृति क्यों नहीं मिली? दलितों का संघर्ष समता और स्वाभिमान के लिए है। उनकी असली समस्या सामाजिक स्वीकृति की समस्या है। किन्तु वहाँ मूल प्रश्न से बचने की कोशिश दिखाई देती है।"[3]

जिन लोगों ने दलित साहित्य के नारे को बुलंद किया, उन्होंने प्रकृतिशीलता, मानवीयता तथा उदारता के नाम पर सामाजिक समन्वयन की पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए एक निश्चित व्यवस्था के तहत अपनी बात कहना प्रारम्भ किया था। जयप्रकाश कर्दम ठीक ही कहते हैं - "जगदीशचन्द्र के 'धरती धन न अपना' का डॉक्टर बिसनदास प्रगतिशील कम्युनिस्ट कॉमरेड का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल पोथीनिष्ठ सिद्धांतो की बात करते हैं, और किताबी व बौद्धिक बहसों के जरिए क्रांति लाने का सपना देखते हैं। इसलिए इन्सानियत के प्रति उतना दर्द उनके दिमाग में नहीं है जितना किताबी मार्क्सवाद है। चमारों को जरुरत है अनाज की, ताकि वे जिन्दा रहकर अपना संघर्ष जारी रख सकें, जबकि बिसनदास और टहलासिंह अनाज की व्यवस्था की बजाय उनके लिए जलसा करने का प्रस्ताव करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी इस त्रासदी का हल खोजने की बजाय राजनीति करते हैं। इतना ज़रुर होता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच द्वंद में बिसनदास इन्सानियत का परिचय देकर काली का पक्ष लेते हुए चौधरी के लड़के को फटकार लगाता है और काली का इलाज करने उसके घर तक जाता है। लेकिन जाति-द्वंदके समय वही बिसनदास अपनी जाति की भावनाओं के साथ ही जुड़ता है, और मानवीयता को ताक पर रखकर काली को अनाज देने से इंकार कर देता है। दलितों का

मन्दिर-प्रवेश भी इसी समझौतावाद का एक रुप है। दलित आन्दोलन करता है मानवीय समता और सम्मान के लिए, इसके लिए वह चाहता है विषमतामूलक ब्राह्मणवाद अर्थात् हिन्दुत्व से मुक्ति। वह नकारना चाहता है भाग्य और भगवान को, और स्वीकारना चाहता है 'अप्प दीपो भव' के कल्याणकारी सूत्र को। किन्तु उसके ढकेल दिया जाता है मन्दिर की दहलीज़ के अन्दर जहाँ किसी भगवान या देवी-देवता के आगे नत-मस्तक हो वह 'अप्प दीपो भव' के विश्वास को छोड़ 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' की याचना करने लगता है। महाराष्ट्र के कालाराम मन्दिर में प्रवेश के लिए आन्दोलन एक समय में बाबा साहब आम्बेडकर ने भी चलाया था, किन्तु इसकी निस्सारता भी वह शीघ्र ही समझ गए थे, और उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। दलित चेतना का यह पक्ष हिन्दी उपन्यासों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसा भी होता है कि दलितों का नेतृत्व करनेवाले सवर्ण लोग ऐसे समझौते कर लेते हैं कि जिनसे दलितों का हित कम उनका अपना हित ज्यादा सधता है। 'धरती धन न अपना' में दलितों में धर्मान्तरण की चेतना दिखाई पड़ती है, जिसमें चमारों के प्रति सवर्णों के छूआछूत और भेद-भावपूर्ण व्यवहार से तंग आकर नन्दसिंह ईसाई बन जाता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सीधी सच्ची बातें' की मिस मण्डल भी हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था और छूआछूत से निजात पाने के लिए धर्मान्तरण करती है और ईसाई बन जाती है। किन्तु ईसाई बन जाने से भी उनकी सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सवर्ण समाज उनके साथ पूर्ववत् व्यवहार ही करता है। बाला दुबे के उपन्यास 'मकान-दर-मकान' में किस्नो और द्वारका भी ईसाई बन जाते हैं। कहने के लिए वे भंगी या चमार नहीं रहे, पर यथार्थ में ऐसा नहीं होता। अस्पताल में उनको नौकरी मिलती है तो झाड़ू-पोंछा लगाने की ही। कुछ उपन्यासों में दलितों द्वारा धर्मान्तरण कर मुसलमान बनने के भी उल्लेख हैं, किन्तु ईसाई या मुसलमान बनना दलितों की सामाजिक समस्या का कोई ठोस समाधान नहीं है। यह कुँए से निकलकर खड्ड में जा गिरना है। धर्मान्तरण के नाम पर दलितों का ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण करने के चित्रण के पीछे मूल मानसिकता बौद्ध धर्म से दलितों का ध्यान हटाने की दिखाई देती है ताकि दलित अपने मसीहा डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से कट जाए और एक सांस्कृतिक शक्ति के रुप में संगठित न हो सकें।"[4]

इस विषय को विस्तार देने वाले और भी अनेक उपन्यास सामने आए, जिनमें श्री लाल शुक्ल का राग-दरबारी इससे पहले निराला का कुल्लीभाट, प्रेमचन्द का गोदान, अमृतलाल नागर का नाच्यो बहुत गोपाल, गिरिराजकिशोर का यथाप्रस्तावित आदि उपन्यास दलितों के प्रति पूर्वाग्रही सम्वेदना लेकर चलते हैं। वैसे, प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती काल में भी अनेक उपन्यास सामने आए जो मनोरंजक कथाओं के माध्यम से निम्नवर्गीय परिवारों से सम्बद्ध रहे इनमें प्रमुख रुप से 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र' का उपन्यास 'प्रेम-योगिनी'; 'गौरीदत्त' का 'देवरानी-जेठानी की कहानी'; 'इश्वरीय प्रसाद' और 'कल्याणराय' का 'वामा से सत्य'; 'श्रद्धाराम फुल्लौरी' का 'भाग्यवती'; 'राधाकृष्णदास' कृत 'निस्सहाय हिन्दू'; 'श्रीनिवास दास' कृत 'परीक्षा-गुरु'; 'देवकीनन्दन खत्री' का 'चन्द्रकान्ता' व 'चन्द्रकान्ता संतति'; 'गोपालदास गहमरी' का 'तिलिस्म तथा जासूस'; 'बाल कृष्ण भट्ट' का 'नूतन ब्रह्मचारी'; 'किशोरीलाल गोस्वामी' कृत 'लखनऊ की कब्र', 'अंगूठी का नगीना' 'माधवी माधव', 'स्वर्गीय कुसुम'; 'अंबिकादत्त व्यास' कृत 'आश्चर्य वृत्तांत'; 'भुवनेश्वर मिश्र' कृत 'घराऊ घटना'; 'हरिऔध' रचित 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'; 'अमृतलाल चक्रवर्ती' कृत 'सती सुखदेही'; 'श्रीधर पाठक' कृत 'तिलिस्माती सुन्दरी' आदि अनेक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

वाल्मीकि त्रिपाठी के उपन्यासों की पृष्ठभूमि में हिन्दी का बहुत बड़ा उपन्यास-साहित्य और कहानी साहित्य विद्यमान रहा है। इनके उपन्यासों में दलित चेतना के स्वर प्रत्यक्ष रुप से मुखर तो नहीं हुए हैं, किन्तु घटना-प्रसंगों में अनेक ऐतिहासिक पात्रों के साथ ऐसे प्रसंग अवश्य आए हैं, जिनमें निम्न जातियों के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनकी हिमायत की गई है। प्रतिबद्ध पूर्वाग्रही दलित साहित्यकारों की तरह सवर्णों के प्रति एक घृणित आक्रोश इनमें दिखाई नहीं देता और न ही ब्राह्मण वर्ग के प्रति तुच्छता और नीचता की भाषा में कोई बात इन्होंने कही है। त्रिपाठी जी का मुख्य लक्ष्य ऐतिह्य घटनाओं को समय सापेक्षता के साथ जोड़कर प्रासंगिक बनाकर एक चाव तो देखा जा सकता है, किन्तु उन्होंने दलित वर्ग की पूर्वाग्रही या हठाग्रही हिमायत का फैसला कभी नहीं किया। जहाँ कहीं भी वाल्मीकि जी ने अपने कथा-प्रसंग को

प्रासंगिकता प्रदान करने का यत्न किया है, वहाँ उन्होंने राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्रता से सम्बन्धित राष्ट्रीय आन्दोलन को ही प्रमुखता दी है, जिसमें आज़ादी के लड़ाई का समर्थक और अंग्रेजी सरकार का दमन खुलकर सामने आता है।

डॉ. त्रिपाठी का औपन्यासिक पटल वैचारिक दृष्टि से ऐतिह्य पृष्ठभूमि पर पल्लवित सामाजिक परिवेश से सम्पृक्त है। व्यक्ति चाहे राजनीति में हो, प्रशासन में हो, व्यवस्था में हो या फिर शासित सामान्य प्रजा के रुप में हो सामाजिकता का निर्वहन सभी को करना पड़ता है, राजा के लिए भी एक सामाजिक मर्यादा होती है, उसके लिए भी समाज की कुछ मान्य आचार संहिताएँ होती हैं, तो प्रजा के लिए भी एक सामाजिक परिधी निश्चित की जाती रही है। इन सामाजिक नियमों के प्रतिकूल यदि राजा तानाशाह होता है, बर्बर, क्रूर या अत्याचारी होता है, तो इस क्रम में आम आदमी भी और असहयोगी भूमिका से जुड़कर व्यवस्था के प्रति चुनौती वनकर बगावत पर उतर आता है। वह क्रान्तिकारी बनकर अन्याय व अनीतियों को चुनौती देता है, और नैतिक शक्ति के आधार पर उससे मुकाबला भी करता है।

डॉ. त्रिपाठी के अधिकांश उपन्यास राजनीतिक परिवेश का प्रतिनिधित्व करते हुए भी एक परोक्ष और अन्तर्हित सामाजिकता का भी उद्घोष करते हैं। राजनीति भी समाज के वृत्त में समाविष्ट है, जिस प्रकार धर्म संस्कृति और इतिहास समाज के ईर्द-गिर्द संलग्न रहते हैं, उसी प्रकार राजनीति भी समाज से ही प्रादुर्भूत होकर प्रस्तरित होती है। यह अपेक्षित है कि हम डॉ. त्रिपाठी के कुछ प्रतिनिधी उपन्यासों के अन्तर्हित इस वैचारिक भूमि को स्पर्श करें।

डॉ. त्रिपाठी द्वारा रचित 'फिलहाल' एक सामाजिक औपन्यासिक कृति है। जिसमें लेखक ने शिक्षा-जगत् से जुडी समस्या को कथा का केन्द्रबिन्दु बनाया है। देव इस रचना का प्रमुख नायक है, जो विद्या अध्ययन हेतु नगर में आता है। गुरु जी के कुटी के बाहर देव की भावना से मुलाकात होती है, और परस्पर वार्तालाप से दोनों प्रभावित भी होते हैं। इस रचना में गुरु जी को हम भारत के आदर्श-गुरु का प्रतिनिधित्व करते हुए देख सकते हैं। देव एक

स्वाभिमानी, कर्त्तव्यनिष्ठ और आदर्शचरित्र का व्यक्तित्व है। भावना भी उससे कम आदर्श नारी नहीं है। दोनों का स्वाभिमान प्रायः टकराता है, परंतु यह टकराहट उन दोनों को आकर्षित करती है, और एक-दूसरे के सामने लाकर खड़ी कर देती है। एक अन्य पात्र कुमार मोहन कॉलेज के प्रबन्धक का बिगडा और नकारा पुत्र है। अशोभनीय आचरण को वह अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। गुरु जी अपने व्यक्तित्व की झलक देव में पाते हैं, और भावना को अपनी बेटी के समान प्यार भी करते हैं। भावना उन्हें अपने पिता से बढ़कर सम्मान देती है। देव कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो जाता है, और तमाम शैक्षिक वातावरण को विभागीय गतिविधियों और विचारों के द्वारा सम्मूर्ति करता है। भावना निशा को कुमार से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार करती है, और दोनों को वह पति-पत्नी के रुप में देखकर प्रसन्न भी होती है।

देव और भावना की जीवन-दृष्टि गुरु जी के व्यक्ति से सीमा तक प्रभावित है, कभी वे अपनापन खो बैठते हैं, और कभी वैचारिक विद्रोह के शिकार बन जाते हैं। भावना भी कॉलेज में शिक्षिका के पद पर नियुक्त हो जाती है। परन्तु अपने पत्नी धर्म से तनिक भी विचलित नहीं होती। इस रचना में लेखक ने नगर-जीवन का बहुरंगी चित्र विभिन्न घटनाओं और पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान द्वारा चित्रित किया है। आदि से अंत तक गुरु जी के आदेश का पालन देव और भावना के आचरण के माध्यम से व्यक्त हुई है, जिससे इसकी कथा को एक गरिमा भी प्राप्त हुई है, जो इस रचना की सीमा-रेखा को अंकित करती है।

इस रचना में लेखक ने गतिशील मानव की उन तमाम परिस्थितियों का जीवन्त चित्रण किया है, जो मानव का पुनर्निर्माण करती है। संगतियों और विसंगतियों का वह द्वन्द्वात्मक स्वरुप भी चित्रित है, जिसके मध्य मानव जीने के लिए मजबूर है। कहने का तात्पर्य है, कि यह रचना मानवीय उपलब्धियों का ऐसा दर्पण है, जिनके सामने खड़े होने के लिए अतिरिक्त साहस की अपेक्षा है। यद्यपि 'फिलहाल' के लक्ष्य का केन्द्र-बिन्दु शिक्षा है, और साथ ही जीवन के अन्यान्य स्वरुपों की अवहेलना भी इसमें नहीं की गई है। इसमें शाश्वत सत्यों को इतने विवेक

सम्मत रुप में स्पष्ट किया है जो जीवन के निर्माण की दिशा में अधिक सक्षम है -जैसे - "आवश्यकता से अधिक उपेक्षा जीवन में कटुता उत्पन्न करती है, जो स्वाभाविक है, उसे स्वीकार करो। जीवन के अभी उस मोड़ पर नहीं पहुँच सके हो, जहाँ वर्जनाओं और निषेधों से जीवन को गतिमान रखने की आवश्यकता हो।"[5]

दाम्पत्य-जीवन में पति और पत्नी के द्वारा अपने-अपने धर्म का निर्वाह करने को भी यहाँ बड़े ही सफलतापूर्वक दर्शाया गया है, जहाँ पत्नी एक शिक्षिका होते हुए भी अपने धर्म का पालन कर रही है - "परस्पर विश्वास ही हमारे दाम्पत्य-जीवन की वह शक्ति है जिससे हम आजीवन जुड़े रहेंगे, हम अंतिम साँस तक विलग न होंगे, न शरीर से, न मन से, न प्राण से.... यही आँसू तो नारी के सौभाग्यवती होने के प्रमाण हैं। सर्वस्व त्यागकर नारी इन आँसुओं को नेत्रों में धारण करना चाहती है। ये नारी की अमूल्य निधि है। आप इन्हें लुटाते रहें और मैं इन्हें बटोरती रहूँ। बस! जीवन की सार्थकता स्वयं सिद्ध है।"[6]

कुछ प्रबुद्ध चरित्रों द्वारा इस उपन्यास में जीवन की विसंगतियों को भी बड़ी बारीकी से चित्रित किया है, जैसे - "किसी की भी जीवन-चर्या का पूर्णतया अनुकरण करना उचित नहीं होता। किसी का वर्तमान जीवन स्वरुप किन परिस्थितियों, वर्जनाओं, अभावों और समझौतों की परिणति है - जानना बड़ा कठिन होता है, और उसके जानने के प्रयास को भी विशेष उचित नहीं ठहराया जा सकता; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की नैसर्गिक और अर्जित क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। उसी के अनुरुप उसकी आशाएँ-आकांक्षाएँ सफलता के रुप में ढलती हैं और उन्हीं से जीवन-स्वरुप का निर्माण होता है।"[7]

वस्तुतः 'फिलहाल' एक सादर जीवन और उच्च विचारों को निर्देश रुप में प्रस्तुत करनेवाली एक ऐसी रचना है, जो आधुनिक काल में संघटनात्मक तथा निर्माणात्मक चेतना को व्यावहारिक स्वर प्रदान करती है।

इसी प्रकार 'शून्य' उपन्यास 'फिलहाल' के अधूरेपन की प्रतीति का परिणाम है, और यह उन क्षणों की प्रतीति है, जब रचना ने अपनी अन्तिम अवस्था का स्पर्श किया था। दोनों रचनाओं के मध्य लंबा अन्तराल होने के कारण इसमें वैचारिक परिवर्तन तो स्वाभाविक है, किन्तु फिर भी रचना शिल्प, पात्रों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और शिक्षा से जुड़े हुए विचारों से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'फिलहाल' की आत्मा ही 'शून्य' के कलेवर में मौजूद है। इस रचना का आरम्भ गुरु और शिष्य के वार्तालाप से होता है। देव अपने चरित्र के कारण 'शून्य' का मूल स्वर है, गुरु की महत्ता पर अधिक बल दिया गया है। कांत, किशोर, मंगला जैसे पात्रों ने कथा के विकास का भार उठाया है। छात्रों के सफल भविष्य को ध्यान में रखकर ही 'शून्य' में एक ऐसे विश्वविद्यालय का निर्माण किया है, जो कि शहर की कोलाहल से दूर एकान्त में स्थित है, और उस विश्वविद्यालय का नाम 'शून्य' है, जो कि इस रचना का शीर्षक भी है।

देव जहाँ लेखन में ध्यान केन्द्रित करता है, वहीं दूसरी ओर भावना अपने चारित्रिक गतिविधियों के द्वारा भारतीय नारी के सक्रिय रुप को प्रस्तुत करती हुई दिखाई गई है। देव यह स्वीकारता है, कि 'शून्य' का साकार रुप गुरुजी की प्रेरणा का परिणाम है। 'शून्य' में बहुत से संस्थानों का निर्माण किया गया है, हर संस्थानों के अपने अलग-अलग कार्य हैं। 'शून्य' में लगभग सौ संस्थानों की निर्मिती है, हरेक में कई कर्मचारी कार्यरत हैं, जिसमें लेखक भी एक है और वह अपनी अंतःचेतना के विचारों को वैयक्तिक अनुभूतियों के द्वारा ध्वनित करते हुए कहता है, कि, "मुझमें और कोल्हू के बैल में क्या अन्तर है! वह दिनभर चलता है और जहाँ का वहाँ बना रहता है। दिन महीनों और महीने वर्षों में परिणित हो जाते हैं, वह न आगे बढ़ता है न पीछे हटता है। पचीस वर्ष पूर्व मैं इस कुर्सी पर बैठा था और आज भी उसी कुर्सी पर उपस्थित हूँ। ये लोग मुझे बधाई दे रहे हैं, आन्तरिक उल्लास प्रकट कर रहे हैं, प्रमुदित मुद्राओं द्वारा मेरी दीर्घकालीन सेवाओं के लिए मुझे अभिनन्दित कर रहे हैं।"[8] यह एक अवकाश प्राप्त व्यक्ति का वेदनापूर्ण स्वर है, जो सेवाकाल को कोल्हू के बैल से अधिक उत्तम नहीं मानता।

इस रचना में रचनाकार ने शिक्षा से सम्बन्धित आधुनिक विचारों को प्रश्नों के रुप में उपस्थित किया है। जैसे - "छात्रों को इस वैज्ञानिक युग में भी भेड़-बकरी क्यों समझा जा रहा है? उन्हें पुराने डंडे से क्यों हॉका जा रहा है? उन पर प्राचीन मान्यताएँ क्यों लादी जा रही हैं ? जिस दृष्टिकोण को संसार का प्रत्येक विकसित देश अनुपयोगी और अहितकर समझकर त्याग चुका है, उसी के छात्रों पर क्यों थोपा जा रहा है? पीढियों पुराना पाठ्यक्रम क्यों नहीं त्यागा जा रहा है? शिक्षण विधि में परिवर्तन क्यों सम्भव नहीं है? सरकारी सेवाजन्य परीक्षा-प्रणाली को संरक्षण क्यों दिया जा रहा है? प्राचीन अभावग्रस्त और संरक्षकविहिन छात्रों की भाँति ही आज के छात्र को क्यों समझा जा रहा है? बाल या युवा मनोविज्ञान की उपेक्षा क्यों की जा रही है? आधुनिक सुख-सुविधा भोगी शिक्षक क्यों चाहता है कि वर्तमान छात्र भी उन प्राचीन शिष्यों की भाँति श्रद्धा प्रकट करे जो निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे और शिक्षक द्वारा संरक्षक के वात्सल्य भागी बनते थे? आधुनिक जीवनभोगी होकर प्राचीन अधिकार सुख-भोग की लालसा क्यों? मेरा विश्वास है - जो समय के परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते, वे या तो पिछड़ जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं? आज आवश्यकता है परिवर्तन के प्रत्येक बिन्दु की उपयोगिता को अपने अनुकूल ढालने की न कि दुराग्रही बनकर अपरिहार्य परिवर्तन को नकारने की।"[9] शिक्षा के क्षेत्र में फैले हुए भ्रष्टाचार, दुराचार तथा अनाचार की इस रचना में लिखित उद्गारों द्वारा धज्जियॉ उडाई गई हैं। दरअसल, जीवन-निर्माण हेतु इस आधुनिक युग में जिस तरह के विश्वविद्यालय की आवश्यकता है, उसका व्यावहारिक स्वरुप इस रचना में विस्तारपूर्वक बताया गया है -"शून्य वस्तुतः एक ऐसी सांस्कृतिक संस्था है जो मानवीय विचारों, शाश्वत एवं सामयिक मूल्यों, स्वस्थ परम्पराओं, अद्भूत उत्सर्गों, भौतिक उपलब्धियों के परिपार्श्व में सन्निहित आदर्शो को व्याख्यायित ही नहीं करती है, वरन् मानवजीवन के बहुमुखी विकास को रेखांकित कर भावी दिशा का स्वस्थ निर्देश करती है।"[10]

'शून्य' का उद्घाटन बसंत पंचमी के दिन किया जाता है, और वह सभी लोगों का स्वागत करता है। डॉ. त्रिपाठी की यह रचना आस्था, विश्वास और संकल्प की त्रिवेणी के रुप में मानी गई है। गुरु जी हाथ जोडकर प्रणाम करते हैं और इसे जन कल्याण की भावना के

साकार रुप में समर्पित करते हैं।

इसी प्रकार 'रिक्शावाले की डायरी' एक मनोवैज्ञानिक रचना है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि मानव गतिप्रिय प्राणी है, तीव्रगति में उसे विश्वास है। आज के इस दौर में तीव्र से तीव्र वाहन उपलब्ध हैं, किन्तु सभी वाहन सर्वसुलभ नहीं होते। मगर रिक्शा वस्तुतः मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के आवागमन का ऐसा सुलभ साधन है, जिसे चलाने के लिए किसी प्रशिक्षण की जरुरत नहीं होती। हर जरुरतमंद व्यक्ति इसके माध्यम से रोज़ी-रोटी कमा सकता है। सामान्य रुप से यदि देखें तो गरीब और अशिक्षित लोग ही रिक्शा चलाते हैं, परन्तु नौकरी न मिलने पर पढे-लिखे लोगों को भी रिक्शा चलाते हुए देखा गया है रिक्शे जैसे वाहन पर अमीर से अमीर और गरीब से गरीब व्यक्ति भी सवारी करता है। रिक्शा हर तरह की सवारियों को ढोता है - जैसे बाल-वृद्ध, नर-नारी, शहरी-देहाती, व्यापारी-विद्यार्थी, अपराधी-संत आदि तक रिक्शे को अपनी आवागमन का साधन मानते हैं। रिक्शे में कभी दो सवारियाँ बैठती हैं, तो कभी अकेला व्यक्ति भी सवारी करता है। रिक्शे में बैठनेवाली सवारी या सवारियाँ प्रायः यह भूल जाते हैं, कि रिक्शा चालक वो सारी बातें सुन रहा होता है, जो वह बातें कर रहे होते हैं। रिक्शे में बैठी सवारी हर तरह की बातें करते हैं, कुछ ऐसी भी बाते होती हैं, जिन्हें एकांत चाहिए होता है, परन्तु लोग वे बातें भी रिक्शे में बैठकर करते हैं। यह मानकर कि रिक्शा चालक सुन न रहा हो या कानों से बहरा हो। यह असावधानी इतनी स्वाभाविक है, कि लगभग सभी सवारियों द्वारा व्यवहृत की जाती है। कैसी विडम्बना है कि जो बातें मुँह से कहने में संकोच होता है, वो भी रिक्शे पर बैठकर कितने स्वतंत्र रुप में व्यक्त हो जाती है। कुछ इसी तरह के विचारों को लेखक ने रचना के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

लेखक ने यहाँ रिक्शाचालक की बात कही है, जो कि स्वयं श्रमजीवी है, और वह मेहनत कर अपना भरण-पोषण करता है। इस रचना का नायक जो रिक्शाचालक है, वह साहित्य में भी रुचि लेता है। डॉ. त्रिपाठी ने समाज में रह रहे कुछ ऐसे लोगों की चर्चा भी की है, जो समाज में रहकर भी उसे ही दूषित कर रहे हैं। जैसे वकील, व्यापारी, स्कूली छात्र। यहाँ छात्रों की बात इसलिए कही गई है, कि वे अपनी शिक्षा अपनी बुद्धि और मेहनत से नहीं, बल्कि रुपयों से

पर्चे खरीदकर उत्तीर्ण होते हैं। लेखक ने सामाजिकता से जुड़े कार्यों पर व्यंग्य किया है। बेरोजगारी की समस्या, दहेज-प्रथा आदि से जुड़े विचारों तथा भावों को लेखक ने अलग-अलग तथ्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

इसकी कथा का आरंभ एक रिक्शा चालक के आहत होकर अस्पताल में भर्ती होने से होता है, वह चालक जिसका नाम लेखक ने रामचन्द्र व रामू बताया है, अपनी डायरी लेखक को सौंपता है, और उसे प्रकाशित करवाने का वायदा लेता है, जिसे लेखक पढकर अभिकल रुप में प्रकाशित करवा देता है। लेखक ने इस रचना का आरंभ ही रिक्शाचालक की अपनी जीवन-गाथा से करवाया है, जो अपनी आपबीती लेखक को सुनाता है। और साथ ही अपने शुरुआती जीवन के विषय में बताता है। माँ-बाप की डकैतों के द्वारा मौत, उसका फरार होना, ट्रकचालक की सहायता से शहर पहुँचना, सेठानी के घर नौकरी, अनुचित कार्यों में फंसना, पुलिस द्वारा वंदी बनाना और नौकरी की खोज में रिक्शे के अड्डे तक पहुँचना आदि उसकी जीवन-गाथा थी। एक वृद्ध उसे सहारा देता है, और उसकी साहित्य के प्रति रुचि देखकर उसे सलाह देता है कि वह जो कुछ भी सुनाना चाहता है उसे लिखकर सुनाए। दस वर्षों से ढोते हुए सवारियों की बातें जो रिक्शाचालक ने अपनी डायरी में लिखा, वह एक वास्तविक चित्र है, जिसे वह सब लोगों के सामने रखना चाहता है।

जीवन के उतार-चढाव को लेकर डॉ. त्रिपाठी ने जिस रचना को विरचित किया, उसका नाम 'उपेक्षिता' है। 'उपेक्षिता' सामाजिक विषय पर आधारित उपन्यास है। इस सामाजिक कथा के द्वारा लेखक ने ऐसे विचारों को उद्घाटित किया है, जो कि यथार्थ की तरफ हमें मोड़ते हैं। जैसे - "अन्तर्मुखी दृष्टि उसे विगत जीवन के तटस्थ पर्यवेक्षण के लिए बाध्य करती है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति पर्यवेक्षण करता है, त्यों-त्यों उपेक्षित भावाचरणजन्य पश्चाताप से वह भर उठता है, और उपेक्षा का स्थान कर्त्तव्य-भावना ग्रहण कर लेती है। बस! उपेक्षा और कर्त्तव्यभावना का अन्तर्द्वन्द्व ही इस रचना का मूल स्वर है।"[11] वैसे, यह रचना उपेक्षिता मूलतः दाम्पत्य-जीवन की अपेक्षाजन्य समस्याओं को लेकर लिखी गई है। विश्वास प्राप्त आचरण न

कर पाने के कारण पिता के द्वारा बेटे के तिरस्कार को इस रचना में लेखक ने विशेष स्थान दिया है। विमल बाबू और विमला का पुत्र काफी बीमार है, सभी डॉक्टरों के उपचार के बावजूद उसके स्वास्थ्य में कोई फर्क महसूस नहीं हो रहा है। सभी डॉक्टर विमल बाबू को डॉ. कान्त से इलाज करवाने का मशवरा देते हैं। डॉ. कांत विमल बाबू की सबसे बड़ी संतान है। विमला देवी के वहाँ पहुँचने पर डॉ. कान्त की पत्नी शीला उससे उलझने लगती है। यहाँ डॉ. कान्त गरीबों के प्रति सहानुभूति के लिए प्रसिद्ध है। डॉ. कान्त की पत्नी शीला अपनी सास के साथ कठोरता से पेश आती है। अधिक वाद-विवाद होने से डॉ. कान्त शीला को झिड़कते हैं, और बच्चे की तरफ हाथ बढाते हैं, परन्तु इस वाद-विवादमें बच्चा निर्जिव हो जाता है, और चल बसता है। डॉ. कान्त इच्छानुसार एक ग्रामीण व्यक्ति की पुत्री से विवाह कर लेते हैं, पर यह विमल बाबू को पसंद नहीं आता, और वह क्रोध में आकर उन दोनों की शक्ल तक न देखने की प्रतिज्ञा करते हैं। डॉ. कान्त एक कर्त्तव्यनिष्ठ चिकित्सक है, और इस रचना का नायक भी है।

उपेक्षित होने के कारण शीला अन्य लोगों से अपने सम्बन्ध जोड़ती है, और डॉ. सिन्हा के ज्यादा करीब आ जाती है। उधर डॉ. कान्त भी अपनी सहयोगी डॉ. रंजना के सम्पर्क में अधिक आते हैं, और शीला उनके मन-मस्तिष्क से उतर जाती है। किन्तु अपनी माँ के हाथों बीमार बच्चे को देखकर डॉ. कान्त की ऑखें खुलती हैं, और वह जीवन के उस सत्य का साक्षात् दर्शन करता है, जिसके प्रति उसकी आँखें बंद हो गई थी, आत्मा सूंनी पड़ गई थी। यह रचना उन भ्रामक स्थितियों का निदर्शन है, जिनके शिकार प्रबुद्धजन तक हो जाते हैं।

व्यस्तता जीवन में वरदान का भी कार्य करती है, और साथ ही साथ अभिशाप का, क्योंकि व्यस्तता अनंत होती है, परन्तु क्षमता बहुत सीमित होती है। इन दोनों के तालमेल में कमी आने के कारण व्यक्ति अकल्पनीय विषमताओं का शिकार बनता है। शीला के रुप में नारी कुछ ऐसी ही मनःस्थितियों की शिकार है और जीवन की ऐसी ही घोर विषमताओं का उसे सामना करना पडता है, जो कि अच्छे पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होती है। किन्तु जैसे सुबह का भूला शाम को घर वापस आ जाता है, उसी प्रकार शीला और डॉ. कान्त का भी

पुनर्मिलन होता है, परन्तु पुत्र के प्राणों के मूल्य के साथ। पिता नियमित जीवन जीने पर बल देते हैं, और डॉ. कान्त भी अनुभव करते हैं, कि, नियमित जीवन जीने में ही सुखानुभूति है। डॉ. कान्त और शीला के पुनर्मिलन से यह सिद्ध होता है - "सदा सुख-दुःख में साथ रहना। सम्पत्ति-विपत्ति के क्षणों का सम्मिलित रुप से सामना करना दाम्पत्य जीवन सौख्य का आधार है।"[12]

डॉ. त्रिपाठी की एक और रचना 'शिकायत' भी कुछ ऐसे ही मोड़ों से गुजरती हुई दिखाई देती है। यह रचना ऐसी है, जो व्यावहारिक जीवन के हर पहलू को उद्घाटित ही नहीं करती बल्कि पारस्परिक सम्बन्धों को इस रुप में चित्रित भी करती है, जैसे वे शिकायत के सूत्र से संग्रन्थित हों। लेखक ने 'शिकायत' में ऐसे-ऐसे दृश्यों को साकार किया है, जिनसे लेखक ही नहीं पाठक तक सुपरिचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक ने शिकायत को एक सार्वभौमिक रुप में चित्रित किया है। यदि हम स्वयं डॉ. त्रिपाठी के विचारों को जानना चाहें तो शिकायत के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा है कि शिकायत हमेशा अन्याय और अत्याचार का द्योतक ही नहीं होती, वरन् सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को भी आधार बनाती है। व्यवहार प्रधान मानव के जीवन में पग-पग पर शिकायतें जन्म लेती ही रहती हैं, कभी-कभी तो इनका समाधान होता है, और कभी ये इसी रुप में विद्यमान रहती हैं।

'शिकायत' शीर्षक में स्वीकारा गया है कि शिकायत से बड़ा सच आज संसार में दूसरा नहीं है। स्वयं रचनाकार भी अपने विचार प्रकट करते हुए कहता है। जैसे - "शिकायत वह सम्बन्धसूत्र विशेष है, जो एक को दूसरे से जोड़ता है। विश्वास कीजिए, यह सम्बन्धसूत्र टूटा नहीं कि कोई किसी का कुछ नहीं रह जाता है। इस 'कुछ' पर ही तो टिका है यह संसार। इसी 'कुछ' के लिए ही तो है सम्पूर्ण संघर्ष। ऐसे ही 'कुछ' विशेष पर तो मर मिटता है अमरत्व का अभिलाषी मानव।"[13]

'शिकायत' का प्रभाव सर्वव्यापी ही नहीं बल्कि सार्वकालिक और सार्वभौमिक भी होता

है। शिकायत के प्रति भी शिकायत करती प्रतीत होती है, जैसे – "ईश्वर की भाँति ही तेरी भी लीला अपरम्पार है। जितनी ही तुझे समझने की कोशिश की जाती है, उतनी ही तू समझ की सीमा से परे होती जाती है। तेरे अस्तित्व के विनाश के जितने ही उपक्रम किए जाते हैं, उतने ही तेरे नित नवीन वैविध्यपूर्ण रुपों के दर्शन सम्भव होते जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे मानवीय प्रयत्नों से ही तुझे शिकायत हो, कदाचित् तुझे यह बरदाश्त नहीं होता कि मानव कुछ करे भी। निष्क्रिय मानव से तुझे शिकायत हो भी क्या सकती है। शिकायत तो तुझे उससे होती है, जो तुझे मिटाने की कोशिश करता है, और तू है कि मिटकर भी अस्तित्वविहिन नहीं होती है।"[14]

'शिकायत' की सत्ता को स्वीकारता हुआ लेखक कहता है कि "तू सोते हुओं को जगा देती है, स्वस्थ को रुग्ण बना देती है। तेरे प्रभाव से सम्पन्नों को विपन्नता के कुओं में गिरते देर नहीं लगती।"[15] शिकायत न समय देखती है न स्थान, इसका न कोई आदि होता है न कोई अन्त। जन्म और रुप की भाँति इसकी गति भी असामान्य होती है। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य को यह मुस्कान के माध्यम से व्यक्त करती है, और कभी क्रोध के द्वारा भी प्रकट होती है। शिकायत क्या, कब, कहाँ, क्यों और कैसे पाँच प्राणों के द्वारा जिज्ञासा की ऐसी अजस्त्र की वर्षा करती है, कि सबकुछ अँधकार में खो जाता है – जैसे – "सारतः शिकायत यहाँ भी है, और वहाँ भी; इनसे भी है और उनसे भी; अभी भी है और कभी भी; नियामक भी है और संहारात्मक भी; प्रकट भी है और अदृश्य भी है ; प्रिय भी है और कष्टकारक भी; अल्पकालीन भी है और अमरत्व की अधिकारिणी भी; लुभाविनी भी है और विद्रूपिणी भी; और विषावत भी है और अमृतमयी भी। "[16]

इस कृति 'शिकायत' में लेखक ने शिकायत करायी है–अपने मन से; बुद्धि–विवेक की हृदय से;क्रियाशीलता से; श्रम को विश्राम से; पिता को पुत्र से; भाई को भाई से; पति को पत्नी से, भाई को बहिन से; प्रेमी को प्रेमिका से; नाती को बाबा से; मित्र को मित्र से; पड़ोसी को पड़ोसी से; शिक्षार्थी को शिक्षक से; नेता की जनता से; मालिक की नौकर से; ग्राहक को दुकानदार से; मनुष्य को भगवान से; जानवर की आदमी से; भूत की वर्तमान से; विपन्नता की

सम्पन्नता से; विद्वान को मूर्ख से; शासित को शासक से; कामचोर की श्रमशील से; असक्त की सशक्त से; दुर्जन की सज्जन से; व्यक्त को अव्यक्त से;धर्म और विज्ञान को मानव से; सभ्यता की संस्कृति से;विनाश की निर्माण से;रोग की स्वास्थ्य से; माध्यम की मध्यम से; हाँ एक की हर एक से;सबको सबसे शिकायत है।

अंततः लेखक ने जीवन को शिकायतमय रुप में प्रस्तुत किया है। आखिर में लेखक यह भी कल्पना करता है, कि काश किसी को किसी से शिकायत न होती, परन्तु दूसरी तरफ लेखक शिकायत के शाश्वत रुप पर बल देता हुआ यह विश्वास भी जाहिर करता है, कि जब तक यह संसार है, तब तक शिकायत अस्तित्व में बनी रहेगी।

डॉ. त्रिपाठी द्वारा विरचित 'जिएँ तो जिएँ कैसे' वैचारिक विवेचन है। आज के इस वैज्ञानिक युग में 'जिएँ तो जिएँ कैसे' जैसी समस्या से हर व्यक्ति त्रस्त है, क्योंकि जीने के साधन सीमित होते हैं, और परम्परागत दृष्टि सुनिश्चित होती है। अभावग्रस्तता जन्य बेचैनी मानव को सभी सुखों से वंचित कर देती है, और फिर वही समस्या उठ खडी होती है, कि जिएँ तो जिएँ कैसे, क्योंकि जैसे जी रहे हैं, उससे संतुष्टि नहीं है, और जैसे जीना चाहते हैं, वह संभव नहीं हो पा रहा। जिसका परिणाम यह निकलता है, कि ऐसे-वैसे नहीं तो फिर कैसे जिएँ। लेखक ने इस वैचारिक रचना के तीसरे पृष्ठ पर समर्पण के रुप में अपने विचारों को उद्घोषित किया है -जैसे- "यह 'जिएँ तो जिएँ कैसे' विरचित है उनके लिए जो 'ऐसे नहीं' 'वैसे जीने' की अतृप्त आकांक्षा के वशीभूत होने के कारण 'कैसे' भी नहीं जी पाते हैं, और घुट-घुटकर जीने की विवशता में सुलभ जीवन-सौख्य से भी वंचित बने रहते हैं।"[17] इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है, कि यह रचना किन लोगों के लिए प्रस्तुत की गई है।

'सम्बोध' में भी लेखक ने विश्वास प्रकट करते हुए कहा है कि - "जब जन्म हो चुका है तब विवश हैं हम जीने के लिए। इसी विवशता के वशीभूत हो हम जिएं चले जा रहे हैं साधनजन्य सुविधाओं के सहारे, इस दृढ विश्वास के साथ, सक्रिय रुप में, कि इससे भी बेहतर

रुप में जीना है।"[18]

वैचारिक विवेचन के अंतर्गत लेखक ने जीवन जीने को एक समस्या के रुप में लिया है, क्योंकि व्यक्ति का विश्वास ऐसे जीने में ही टिका नहीं रहता, बल्कि वैसे जीने के प्रयत्न की ओर भी अग्रसर रहता है। मानव एक प्रयत्नशील प्राणी है, और वह आजीवन प्रयत्नरत भी रहता है, परन्तु इतने प्रयासों के बावजूद भी उसे कुछ भी नहीं मिलता और प्रयासरहित मानव पशुकोटि में परिगणित किया जाता है। प्रयत्न के बल पर ही मानव कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। वैसे, तो मानव की तीनों अवस्थाएँ - बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था ही प्रमुख मानी जाती हैं, किन्तु मनःस्थितियाँजन्य ऐसी अवस्थाएँ भी पाई जाती हैं, जिनमें उलझकर मानव अनिश्चितता के सागर में गोते लगाने के लिए मजबूर हो जाता है, और निर्णय भी अवस्था के अनुरुप ही होता है। मनुष्य जिज्ञासाप्रधान प्राणी भी है। इसी के सहारे वह अनन्त संभावनाओं के पंखों पर बैठकर विचरण करता है, और मानव मस्तिष्क प्रेरित जिज्ञासा का ही चमत्कार है, कि दिन पर दिन मानव तीव्र गति को ग्रहण करता जा रहा है। मानव की सभी क्रियाकलापों का आधार शरीर को माना है, यदि शरीर स्वस्थ है तो मनुष्य असंभव कार्य को भी संभव बना देता है, और अस्वस्थता के समय अनेकानेक कारणों की खोज की जाती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि जीने के लिए उत्तम स्वास्थ्य का होना जरुरी होता है। जीवन यदि मिला है, तो क्यों न इसे उत्तमोत्तम ढंग से जिया जाए। मानव को स्वतन्त्रता अधिक प्रिय होती है, किन्तु परतन्त्रता की वेदना में वह छटपटाता भी रहता है। विश्वास जितना सहज दिखाई देता है, उतना ही घातक भी सिद्ध होता है, इसलिए जहाँ तक संभव हो सके विश्वास को सहज नहीं बनने देना चाहिए। मनुष्य के जीवन का अधिकांश समय प्रतीक्षा में ही गुजर जाता है, और यही प्रतीक्षा मानव को परतन्त्रता की ओर भी घसीटती है। अधिकांश लोग भविष्यकालीन चिन्ता और भूतकालीन ग्लानि में वर्तमान के सुख-चैन की बलि चढ़ा देते हैं। मानव ने अपनी सुविधाओं के लिए विभाजन की इतनी रेखाएँ खींच दी हैं, कि वह उन्हीं विवादों में उलझा हुआ रहता है। मानव परिस्थितियों का दास है, उन्हीं को समझने और उनसे ही जूझने तथा अपने अनुसार ढालने में ही सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर देता है। मानव साँस तो वर्तमान

में लेता है, किन्तु जीता भूत में है। प्रकृति का अविभाज्य अंग होने पर भी मानव हमेशा प्रकृति के विरुद्ध आचरण किया करता है। प्रयासजन्य सफलता-असफलता को मीठे और खट्टे स्वाद की भाँति स्वीकारता है। यदि सुख पाना है, तो दूसरों को भी सुखी देखना चाहिए। लेन-देन जीवन का व्यावहारिक नियम माना गया है। डर रहित जीवन बड़ा ही आनन्दमयी होता है। अधिकारों के अलावा कर्त्तव्यों पर दृष्टि रखने वाला मनुष्य ही सफल होता है। मन-वचन-कर्म में समानुपातिक सामंजस्य रहना चाहिए। मानव प्रकृति की एक मशीन के रुप में विद्यमान है, किन्तु उसने इतनी मशीनों को जन्म दे डाला है, कि उसका जीवन खुद भी एक मशीन की तरह हो गया है, जबकि अधिकांश लोगों का विश्वास है कि परिवर्तन में हल पल परिवर्तन के शिकार प्राणी की मनःस्थितियों का चित्रण लेखक ने इस उपन्यास में अनेक उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया है।

अन्त में, लेखक निष्कर्ष रुप में अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए कहता है - "आप स्वयं कैसे जी रहे हैं या जैसे जी रहे हैं, वैसे जीने के लिए विवश हैं। इस पर अधिक ध्यान न देना ही श्रेयष्कर होता है, क्योंकि वास्तविकता के परिज्ञान से वह वेदना और निराशा ही हाथ लगती है, जिससे मुक्त होने के प्रयास में उपलब्ध सुख से भी हाथ धोना पड़ता है। फिर सहसा प्रश्न उठ खडा होता है कि कैसे जिएँ की समस्या क्या समाप्त नहीं हो जाती है? किसी सीमा तक अवश्य यह सोच समस्या का समाधान होता है, किन्तु न तो महत्वाकांक्षा शांत बैठने देती है, और न अनुकरण वृत्ति ही सुस्थिर जीवन जीने देती है , बल्कि कसक या टीस बनकर विश्राम के क्षणों में ऐसी व्याकुलता उत्पन्न करती है कि निराशा और निरर्थकता की स्पर्शानुभूति होने लगती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर यह सोचकर मन को भरमा लें कि जो मिला है, वही पर्याप्त है, न जाने कितनों से बेहतर है अपना जीवन, अधिकाधिक प्राप्ति की लालसा मन के सुख-चैन को नष्ट करती है, और क्या संतोष-धन की महत्ता का प्रतिपादन किन्हीं सिर-फिरों की देन है? क्या ठीक है और कितना ठीक है। यह सोचना-विचारना आपका काम है। जो करना है, वह भी आपको ही करना है। जब सोचना और करना अपने को ही है तब व्यर्थ में माथापच्ची या आपाधापी क्यों? पर शान्त बैठना ही तो मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। रह-रहकर

अशान्त हो उठना भी मानव-प्रकृति के अनुकूल नहीं है। फिर यह शान्त-अशान्त का झगड़ा क्यों? बस, इसी के समाधान के लिए मानव अनवरत आजीवन प्रयत्नरत बना रहता है। प्रयत्नरत बने रहिए आप भी। प्रयत्नरत ही तो रहते हैं 'कैसे जिएँ' के लिए। इससे अधिक कुछ कर भी तो नहीं पाते हैं और यदि कुछ अधिक किए जाने की सम्भावना है तो उठा भी नहीं रखते हैं 'ऐसे' से 'वैसे' जीने के लिए। विश्वास कीजिए यही है प्रयास-प्रक्रिया 'जिएँ तो जिएं कैसे' की जो आचारसंहिता रुप में जीवन को संचालित और परिचालित किया करती है।"[19]

मेरे विचार से यह कहना उचित होगा कि आधुनिक जीवन-यापन के इच्छुक मानव के लिए यह रचना एक पथ-प्रदर्शिका है।

डॉ. त्रिपाठी की यह रचना भ्रष्टाचार के उस रुप को वर्णित करती है, जो आधुनिक युग की देन ही नहीं वरन् सार्वकालीन तथा सार्वभौमिक उस सत्य को भी भ्रष्टाचार के रुप को प्रस्तुत करती है, जिसे अनुभूतिगत सीमा के अन्तर्गत मानव ने सदा व्यावहारिक रुप में पाया है, और इसीलिए डॉ. त्रिपाठी ने अपनी इस वैचारिकपूर्ण रचना का शीर्षक 'भ्रष्टाचार' रखा है। वैसे, भ्रष्टाचार शब्द दो शब्दों के योग से निर्मित है - भ्रष्ट और आचार। 'आचार' का मतलब है 'आचरण'। जब किसी का आचरण भ्रष्ट अर्थात् दूषित हो जाता है, तब भ्रष्टाचार अस्तित्व में आता है। भ्रष्टाचार का अनुमान होता है - सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त अनियमितताएँ, जिन्हें लेखक ने इस रचना में एक सार के रुप में चित्रित किया है। 'आग्रह' में लेखक भ्रष्टाचार विरोधियों, समर्थकों और प्रेमियों को सम्बोधित करते हुए कहता है - "स्थूल रुप में 'भ्रष्टाचार' कुछ भी नहीं है और 'सब-कुछ' भी है। 'भ्रष्टाचार' के अस्तित्व की अनुभूति के लिए मात्र आवश्यकता होती है अनुकूलता-प्रतिकूलता के मध्य की मनःस्थिति की। अनुकूलता यदि विवशता है तो 'भ्रष्टाचार' सशक्त साधन प्रतीत होता है और यदि प्रतिकूलता आभासित होती है तो 'भ्रष्टाचार' हर दृष्टि से निंदनीय और अहितकारी अनुभव होता है।"[20]

चिन्तकों और मनीषियों के द्वारा मानव-जीवन के चार प्रधान पुरुषार्थ माने गये हैं -

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष;और चार ही युगों की कल्पना भी की गई है - सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। समय की शक्ति के आगे सभी नतमस्तक हैं। यदि हम पुरुषार्थों के क्रम को उलटकर युगों के साथ संगति बिठाएँ, जैसे सतयुग के साथ मोक्ष, त्रेता के साथ कर्म, द्वापर के साथ धर्म और कलियुग के साथ अर्थ आदि को सम्मिलित रुप में व्याख्यायित करें तो भ्रष्टाचार के मूल स्वर को सहज रुप में ग्रहण किया जा सकता है। भ्रष्टाचार को समय की देन कहा गया है इसका साम्राज्य बड़ा विस्तृत होता है। इसके पोषक तत्व हैं - महत्वाकांक्षा, समय का अभाव, साधन विहीनता और इनके आज्ञाकारी स्वामिभक्त अनुचर हैं - कुदृष्टि, ईर्ष्या, कपट, छल, गोपनीयता, तिकड़म, प्रवर्चना, निष्क्रियता आदि। भ्रष्टाचार की शक्ति को लेखक ने अपरिमित माना है। जैसे - " 'भ्रष्टाचार' की वायु जहाँ से गुजर जाती है, वहाँ के रंग बदरंग हो जाते हैं, विश्वास की चूलें हिल उठती हैं, नियम-उपनियम किनारा कर लेते हैं, वचनभंग हो जाते हैं, संकल्प ढह जाते हैं, प्रतिज्ञाएँ बिखर जाती हैं, ज्ञान-विज्ञान धूल-धूसरित हो जाते हैं, धर्म एक कोने में दुबक जाता है, भय और आतंक अदृश्य हो जाते हैं, निष्क्रियता खोजे नहीं मिलती है, तिकड़म, हेराफेरी, जुगाड़ और गुंजाइश का कुछ ऐसा साम्राज्य छा जाता है जहाँ निराशमन उमंगित हो उठते हैं, लटके चेहरे विहंस उठते हैं, असफलता के पंक में निमग्न विचार सहसा सशक्त बन जाते हैं, और निर्जीव भाव सजीव प्रतीत होने लगते हैं।"[21]

'भ्रष्टाचार' मानव समझ की बहुत बडी कसौटी है, जैसे-जैसे मानव समझदार हो रहा है, भ्रष्टाचार उतना ही बढता जा रहा है। भ्रष्टाचार की निन्दा तो सभी करते हैं, परन्तु कोई इससे मुक्त नहीं हो पाता, क्योंकि प्रकृति में है भ्रष्टाचार और प्रकृति से परे मानव के अस्तित्व की कल्पना करना तक कल्पनातीत है। जैसे - "भ्रष्टाचार" तो धरती का गतिमान भगवान है। मानव को इसी से जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। प्रगति के प्रतिक के रुप में जो भी दृश्यमान है, सब इसी 'भ्रष्टाचार' की कृपादृष्टि का ही तो सुपरिणाम है। गति इसी से शक्ति अर्जित करती है। विकास को दिशा निर्देश इसी से प्राप्त होता है। सर्वत्र विद्यमान सुख-समृद्धि इसी की उपलब्धियों का प्रमाण है। इसके परे न जाने क्या-से-क्या हो जाता है। निराश मन में आशा का संचार करना इसके बाएँ हाथ का खेल है। इसकी भृकुटि के एक संकेत पर असफलता

सफलता के रुप में परिणत हो जाती है। असम्भव इसके सामने पानी भरता है। दुःख-दारिद्रय इसके चुटकी बजाते ही रफू-चक्कर हो जाते हैं, और इसके चमत्कार को सभी नमस्कार करते हैं।"[22]

'भ्रष्टाचार' पर और भी रोशनी डालते हुए लेखक ने आगे लिखा है - "भ्रष्टाचार से बड़ा सत्य संसार में दूसरा नहीं है, जो भी परिणाममूलक गतिविधियाँ हैं, सब 'भ्रष्टाचार' की ही देन हैं। प्रकृति के प्रतिकूल मानवीय प्रयासजन्य जो भी सृष्टि दृश्यमान है, सब 'भ्रष्टाचार' के उपक्रमों का प्रतिफल है। विकास के जिस शिखर को मानव सगर्व स्पर्श कर रहा है, वह 'भ्रष्टाचार' की नींव पर ही विनिर्मित है।"[23]

रचना के अन्त में 'परामर्श' शीर्षक के तहत रचनाकार ने भ्रष्टाचार से सम्बन्धित युग-चेतना को स्वर प्रदान करते हुए अपने विचारों को स्पष्ट किया है। जैसे - " 'भ्रष्टाचार' यथावत विद्यमान है और शनैः शनैः सशक्तकर रुप ही धारण करता जा रहा है। कालांतर में इसका रुप क्या होगा इसे तो कदाचित स्वयं 'भ्रष्टाचार' भी नहीं जान सकता है। यदि मानव 'भ्रष्टाचार' का जनक है, तो संहारक रुप भी मानव को ही धारण करना होगा। होगा वही जो मानव चाहेगा और करेगा। और जो करेगा उसे भरेगा भी वही। इस वही के परे कौन है?"[24]

संक्षेप में यदि हम देखें तो 'भ्रष्टाचार' के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना उचित होगा कि यह कृति भ्रष्टाचार से सम्बन्धित सभी विचारों, मान्यताओं और व्यावहारिक सत्यों को उद्घाटित ही नहीं करती बल्कि भ्रष्टाचार से मुक्त होने के सुझावों की ओर भी दिशा-निर्देश करती है।

'दम्पत्ति' एक ऐसी रचना है, जिसमें लेखक ने दाम्पत्य-जीवन के कई बोध-चित्र उपस्थित किए हैं। लेखक ने यह रचना उस दम्पत्ति विशेष के लिए प्रस्तुत की है, जिसका दाम्पत्य जीवन संतुष्टिमूलक सुखों की अनुभूति से परिपूर्ण है। वैसे तो हम में अधिकांश लोग

दाम्पत्य-जीवन की छत्र-छाया में जी रहे हैं। विवाहोपरान्त स्त्री-पुरुष एक पति-पत्नी के रुप में जीते हैं, कभी-कभी सम्बन्धों में दरार पड़ जाने की वजह से वे अलग भी हो जाते हैं, किन्तु उनके जीवन की वो यादें कभी मिटती नहीं है। दाम्पत्य-जीवन एक सरिता है, और पति-पत्नी उस सरिता के दो किनारों की तरह ही हैं। यदि दोनों समान हैं, तो यह जीवन रुपी सरिता सामान्य गति से प्रवाहित होती रहती है। जैसे - "विचारक्षमता का महत्व भी अनुभव से कम नहीं है। दोनों ही अनुपम, उपयोगी और ऐसी विशेष क्षमता सम्पन्न हैं, जिसके अभाव में न तो जीवन को सुखी ही बनाया जा सकता है, और न गतिशील रखा जा सकता है। जीवन-सरिता के प्रवाह को अवाधगति से प्रवाहित बनाए रखने के लिए विचार और अनुभव के दुकूलों की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी अपेक्षा है दो विपरीत लिंगी प्राणियों की दाम्पत्य-जीवन-निर्माण के लिए।"[25]

पति-पत्नी कितने ही मज़बूत इरादेवाले क्यों न हो, किन्तु हालात के आगे सभी को झुकना ही पडता है। दाम्पत्य-जीवन में धैर्य और संयम दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर-कन्या; वर-वधु; दूल्हा-दुल्हन आदि दम्पत्ति के परम्परागत पूर्णरुप 'दम्पत्ति' शब्द के अस्तित्व में आते ही विलीन हो जाते हैं। इस रचना में लेखक ने दाम्पत्य जीवन के तीन रुपों का चित्रांकन किया है - पूर्णरुप; मध्यरुप और विखंडित रुप। एक अवस्था विशेष को प्राप्त होते ही लडकी और लडका दोनों ही दाम्पत्य-जीवन के दिवास्वप्नों में खो जाते हैं, जिनका मुख्य कारण है - दाम्पत्य-जीवन की देन। अक्सर बच्चा माता-पिता को दाम्पत्य-जीवन के रुप में देखता है और वह उसी दृश्य का अभ्यासी हो जाता है, जिसकी आकांक्षा उसके मन में उत्पन्न होने लगती है। आज के इस युग में शिक्षा और समझ के अधिक विकास के कारण नवयुवक-नवयुवतियाँ भी अपने विवाह हेतु कम सक्रिय नहीं हैं।

इस रचना 'दम्पत्ति' के पूर्वभाग में लेखक ने दाम्पत्य-जीवन की छत्रछाया में विकसित होने वाले उन नवयुवकों और नवयुवतियों की मनोभावनाओं के चित्र प्रस्तुत किए हैं, जो दाम्पत्य में प्रवेश के लिए लालायित ही नहीं बल्कि व्यावहारिक उपाय खोजने में भी व्यस्त हैं।

बोध-चित्रों से यह हल निकाला जा सकता है कि स्वयं के प्रयासों से जिस दाम्पत्य-जीवन की उपलब्धि होती है, वह संरक्षकों के विरुद्ध शिकायत से भरी नहीं होती। इस कृति के मध्यभाग में लेखक ने दाम्पत्य-जीवन की उन दुःख-सुखपूर्ण मनःस्थितियों के बोधचित्र चाहे-अनचाहे रूपों में चित्रित किए हैं, जो यथार्थ के साथ-साथ आदर्श की ओर भी संकेत करते हैं। शायद ही कोई ऐसा दम्पत्ति हो, जो अपने दाम्पत्य जीवन से पूरी तरह संतुष्ट हो, क्योंकि किसी न किसी कारण से पति-पत्नी में खट-पट होना स्वाभाविक है। जैसे - "मैं हूँ मर्द। मर्द की जुबान एक होती है, उस जुबान से जो एक बार निकल जाता है, वह पलटता नहीं है। पत्थर की लकीर बन जाता है वह। न अविश्वास के कारण वह दुहराया जाता है औइ न उसे मिटाया ही जा सकता है, क्या समझती हो मुझे?.... आप ही कहाँ के तीरंदाज थे। आए थे मुझे देखने और देखने के लिए गरदन तो उठ नहीं पा रही थी। बडी मुश्किल से गर्दन सीधी हुई तो आँखें न जाने कहाँ खो गई। ऑख मिलाकर देखते तो असलियत छुपी न रह पाती।"[26] समय के साथ-साथ यह मनःस्थितियॉ उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं।

लेखक ने सुख-दुःख से परिपूर्ण दाम्पत्य-जीवन के कुछ ऐसे चित्रों को प्रस्तुत किया है, जो अनुभूति के बहुत करीब होते हैं। जैसे - "प्रत्येक का अपना पृथक व्यक्तित्व होता है। व्यक्तित्व की गरिमा होती है स्वतन्त्रतानुभूति में। क्या ऐसी भी अनुभूति कभी नहीं हुई? ऐसी तो अनुभूति मुझे तब हो जब मैं आपसे अपने को पृथक अनुभव करुँ। और फिर मुझे आवश्यकता भी क्या है ऐसी किसी भी अनुभूति की। मैं तो आपको सशरीर अपने अन्दर अनुभव कर मगन बनी रहती हूँ।"[27]

इस रचना के उत्तरी भाग में लेखक ने ऐसे दम्पत्तियों के बोधचित्र अंकित किए हैं, जो मनोनुकूल स्थितियों के विपरित दाम्पत्य जीवन-यापन के लिए विवश हैं, और अज्ञानता के अंधकार में अनुपलब्ध सुख की खोज में पागल हो रहे हैं। दाम्पत्य-जीवन से ऊब चुके लोग दाम्पत्य जीवन के अभिलाषी बने हुए हैं, यह पागलपन नहीं है, तो और क्या है। ये लोग कितने सुखी व संतुष्ट हैं, इन्हीं के शेष जीवनकाल की अनुभूति को लेखक ने तीसरे और अंतिम भाग

में प्रस्तुत किया है। लेखक ने सुखी दाम्पत्य जीवन जीने के लिए कुछ अनुभूतिगत सत्यों की ओर भी संकेत किया है। जैसे - "मुझे क्या मालूम। कूल-अनुकूल मैं कुछ नहीं जानती। मेरे तो जो कुछ हैं, सिर्फ आप ही हैं। आप हैं भी तो सबसे अच्छे, सबसे निराले। क्या निरालापन है मुझमें। यह पूछिए कि क्या नहीं है आप में। किसी में भी जो कुछ है, वह सब आप में है और जो आप में नहीं है, वह किसी में है भी नहीं। तो तुम्हारा यह दृष्टिकोण है मेरे सम्बन्ध में। सिर्फ दृष्टिकोण ही नहीं, मान्यता है मेरी, मेरी धारणा है और है अटल विश्वास आपके सम्बन्ध में।"[28]

त्याग दाम्पत्य-जीवन का वास्तविक धर्म होता है, और विश्वास को दाम्पत्य जीवन का प्राण माना जाता है, जिसकी रक्षा हर मूल्य पर करनी चाहिए। 'दम्पत्ति' में 'दम' का महत्व अधिक होता है, इसलिए पति को सहयोगी और पत्नी को सहचरी रुप में विचरण करना चाहिए। विवाह के बाद पत्नी-पति के घर आती है, इसलिए बाहर से आए हुए प्राणी का सम्मान हर किसी को करना चाहिए, न कि उसे पग-पग पर लांक्षित और तिरस्कृत करना चाहिए। अपनी खुशी के साथ-साथ पत्नी की खुशियों का भी ध्यान रखना चाहिए ताकि उसे अपनी नज़रिए से जिन्दगी गुजारने का अवसर मिले नहीं तो उसमें नफरत की भावना जाग्रत हो जाएगी। जैसे - "मैं अपनी जिन्दगी को अपनी ऑखों से देखती हूँ और अपने तरीके से जीना चाहती हूँ। न मुझे किसी के राय-मशविरे की जरुरत है न मैं किसी दया की ही मुहताज होना चाहती हूँ, बल्कि जो मुझे पसंद है, उसे ही मैं पाना चाहती हूँ।"[29]

दाम्पत्य-जीवन को 'गुड से भरा हँसिया' भी माना गया है, जिसकी सुतीक्ष्णता और मिठास दोनों ही श्लाघनीय होती है। समाज सम्मत और परम्परागत प्रचलित मान्यताओं के मध्य समझौता ही दाम्पत्य-जीवन है। दाम्पत्य-जीवन एक ऐसा महासंग्राम है, जिसमें पति-पत्नी रुप में न कोई हारता है, और न ही कोई जीतता है। जैसे - "चतुराई का मेरा सिक्का कुछ ऐसा चला कि कभी किसी को उसमें खोट नज़र नहीं आई। इससे मेरे अन्दर भी कुछ ऐसा विश्वास जगा कि मैं किसी से कुछ भी अपने अनुकूल करा सकता हूँ, पर यदि किसी के सामने मैं असफल हुआ तो वह है मेरी पत्नी। पत्नी मुझ से अधिक चतुर हैं। उन्होंने अपने को मेरे अनुकूल इतना

ढाल लिया है, कि मैंने उनके प्रतिकूल सोचना तक बन्द कर दिया है। बस, इसी बिन्दु से प्रारम्भ हो जाती है उनकी जीत। मुझे वह हारी लगती हैं, पर जीत होती उन्हीं की है - इसकी अनुभूति मुझे बहुत देर में हो पाती है।"[30]

लेखक ने दाम्पत्य-जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी बतलाई हैं, जिसका पालन यदि हर दम्पत्ति करें तो उनका जीवन सुख से व्यतीत हो जाए। दाम्पत्य जीवन को पाठशाला का रुप देते हुए रचनाकार ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि यह ऐसी पाठशाला है, जहाँ त्याग, दया, सेवा, सहिष्णुता का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। धीर-वीर पुरुष भी पत्नी के इशारों पर नाचते हैं, और सुन्दर तथा सुगृहिणी पत्नी भी रुग्ण पति की सेवा में जीवन सर्वस्व समर्पित कर देती है। इसलिए लेखक ने दाम्पत्य जीवन को एक उपवन भी माना है, जिसमें त्याग का बीज, सेवा की खाद, प्रेम का जल, सहिष्णुता की वायु और श्रम के संरक्षण से यह एक वृक्ष के रुप में दृश्यमान होता है। वैसे तो, स्त्री-पुरुष के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होते हैं, किन्तु दाम्पत्य-जीवन में यह अलगाव समाप्त हो जाता है, और एकाकार रुप ग्रहण कर लेता है। मन, वचन और कर्म की त्रिवेणी में दाम्पत्य-जीवन का अवगाहन करना चाहिए। एक सफल तथा सुखी दाम्पत्य-जीवन की प्रथम शर्त होती है - समर्पण की भावना। वस्तुतः दाम्पत्य-जीवन हताश मन और मग्न हृदय प्राणियों का ऐसा चिकित्सागृह है, जहाँ दो आत्माओं के मिलन के द्वारा प्रेम को वाणी मिलती है।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की अगली रचना 'पितामह' वृद्धजनों को मध्यनज़र रखते हुए लिखी गई है। यह भी एक वैचारिक विवेचन ही है। 'पितामह' शीर्षक रचना को लेखक ने दोष दर्शकों को अर्पण स्वरुप भेंट की है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति दोष दर्शक अधिक होता है, अपेक्षाकृत गुणों के दर्शन के। इस रचना का संबंध वृद्धावस्था की सोच की रेखाओं से है। ऐसा लगता है, जैसे लोग अपने को सोच का ठेकेदार समझते हैं, और दूसरे को अपने सामने कुछ समझते ही नहीं। इस रचना के उद्देश्य के सम्बन्ध में अंतिम पृष्ठों में रचनाकार ने स्वयं की दृष्टि को स्पष्ट किया है। जैसे - "समझ के ठेकेदार तो वृद्धजन होते ही हैं। न उन्हें समझाने की

आवश्यकता होती है, और न उन्हें कोई समझा ही सकता है। फिर मैं किस खेत की मूली हूँ। उनकी सेवा में मात्र निवेदन ही कर सकता हूँ कि वृद्धावस्था जीवन की वह अवस्था विशेष है, जहाँ सभी कुछ परिपक्व हो जाता है। मात्र आयु ही नहीं, समझ भी, अनुभव और ज्ञान भी, उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय की निराकरण शक्ति भी परिपक्वावस्था को प्राप्त हो जाती है। ऐसी परिपक्व अवस्था का प्राणी भला किस परामर्श, शिक्षा, उपदेश अथवा निर्देश का पात्र हो सकता है, फिर भी, प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति कहीं न कहीं मार्ग-निर्देश की आवश्यकता अनुभव करता है, कभी न कभी सहायता की अपेक्षा करता है, और किन्हीं न किन्हीं विपरीत परिस्थितियों में पड़कर असमर्थता की अनुभूति से इतना आक्रांत हो उठता है कि असफलताजन्य निराशा के सागर में निमग्न हो जाता है। इन विषम और अनियन्त्रित अवस्थाओं में भी उस साहस और अडिगता विशेष का परिचय देना है, जो सम्पूर्ण जीवन की सत्यानुभूतियों और व्यापक ज्ञान का सारतत्व होता है। किसी भी प्रतिकूल परिस्थितियों में अविचलित रहकर आप उस पौरुष का परिचय दे सकते हैं, जिसके आप आजीवन स्वामी रहे हैं, और आज भी हैं। कदाचित् आप मेरे इस विश्वास के प्रति आशंका प्रकट कर बैठें अथवा असहमति व्यक्त करें इस भावना के साथ कि पौरुषवान रहे हैं, कभी, आज, इस अवस्था में नहीं हैं। शरीर में पौरुष ही शेष होता तो वृद्ध ही क्यों कहलाता। इसी पौरुष की खोज ही तो सम्पूर्ण मानवीय अनुसंधानों और अन्वेषणों का एक मात्र लक्ष्य है। इस लक्ष्य प्राप्ति के अभाव में ही तो मानव मृत्यु को इस विश्वास के साथ वरण करता है कि पुनर्जन्म में नवीन पौरुष की प्राप्ति होगी। आपके विश्वास को असत्याधारित होने का दावा मैं तो क्या कोई नहीं कर सकता है, फिर भी इतना कहे बिना मैं भी नहीं रहता कि पौरुष का अभिप्राय आप मात्र शारीरिक शक्ति ही क्यों लेते हैं? पुरुष के अंदर बौद्धिक और आत्मिक शक्ति भी तो होती है। सम्पूर्ण शक्ति को पौरुष क्यों नही स्वीकार करते? मेरा तो अनुभव कुछ ऐसा भी है कि मानव शरीर में शक्ति संतुलन सदा रहता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक शक्ति घटती है, त्यों-त्यों बौद्धिक शक्ति बढ़ती है। शक्ति सदा गतिमय होती है। स्थिरता शक्ति का स्वभाव नहीं है। ह्रास और वृद्धि इसकी नियति है। अविराम ऊर्ध्वगामी होना इसकी प्रकृति है। सम्भवतः इसके वास्तविक रूप को न पहचान पाने के कारण ही पौरुष की खोज में मानव लोक-परलोक की यात्रा के लिए सन्नद्ध रहता है।"[31]

'कहाँ तक कहें' के अंतर्गत स्वयं लेखक ने यह स्वीकार किया है, कि उनके मन में वृद्धजनों के प्रति सहज आकर्षण रहा है। वृद्धजनों की संगत उन्हें अच्छी लगी है। उनके साथ घूमना-फिरना और उनकी बातें सुनना जैसे लेखक का स्वभाव बन गया है, और जो भी देखा-सुना उसे दृश्य चित्रों के रुप में 'पितामह' में प्रस्तुत किया गया है। 'कुछ अपनी कुछ पराई' के अंतर्गत लेखक ने स्पष्ट किया है कि - "वृद्धावस्था भी जीवन की एक अवस्था विशेष है। इसकी भी सार्थकता है। इसकी अनुभूति प्रत्येक वृद्ध को होती है। इसी सहानुभूति को परानुभूति बनाने का सर्वाधिक प्रयास होता है वृद्धावस्था में। प्रत्येक वृद्ध की चेष्टा होती है कि अधिक से अधिक लोग उसकी ओर देखें और उसकी उपलब्धियों की सराहना करें, बुराई कतई नहीं। अपनी बुराई अथवा अपनी किसी कथनी-करनी के विरुद्ध कुछ भी सुनना बरदाश्त नहीं कर पाता है। उसकी दृढ़ धारणा होती है, कि वह जो कुछ सोचता है, वही ठीक है और वह जो कुछ करता है, उसके अलावा कुछ भी उचित नहीं है। इस भ्रामक धारणा का शिकार हर वृद्ध होता है। इस यथार्थ को नकारना नहीं चाहिए कि बुढ़ापे में दिखाने लायक होता कुछ नहीं है। वृद्ध क्या दिखाना चाहता है, अपना झुर्रियों से भरा दंत-विहीन चेहरा, जिसे वह सीसे तक में देखने का साहस नहीं जुटा पाता है।..... हॉ, वैचारिक परिपक्वताका दावा अक्सर वृद्ध लोग बड़ी शान से करते हैं, 'ये बाल धूप में नहीं सफेद हुए हैं। इन आँखों ने दुनिया देखी है। इस देह की इन झुर्रियों ने असंख्य शीत-ताप सहे हैं। इन्हीं टाँगों ने न जाने कितनी बार धरती का ओर-छोर नापा है। क्या नहीं किया है इन हाथों ने। जीवन की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को हॅसते-हॅसते झेला ही नहीं है, उन्हें समान-भाव से ग्रहण भी किया है। वाह! क्या जमाना था। कैसे-कैसे लोग थे! कैसी-कैसी बातें थी! कैसे सुनहरे दिन थे वे। काश! कोई लौटा सकता उन्हें।"[32] इस यथार्थ सत्य को लेखक ने अन्यान्य साक्षात्कारों द्वारा कथात्मक रुप में प्रस्तुत किया है।

इस रचना में रचनाकार ने अनेक वृद्धों के साक्षात्कार को चित्रित किया है, और साथ ही वृद्धजनों की मानसिकता और शारीरिक वास्तविकता का द्योतन भी कराने की चेष्टा की है, और इस बात पर विशेष जोर दिया है कि असमर्थता की अनुभूति को छिपाए हुए वृद्धजन

करणीय-अकरणीय के संपन्न किए जाने की घोषणा सगर्व किया करते हैं, जबकि वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत होती है। आज समय और जीवन की मांग-निर्माण है। बाल और युवाओं द्वारा ही निर्माण सम्भव है, किन्तु इसमें भी वृद्धजन ही दावा करते हुए दिखाई देते हैं। वृद्धजनों की दृष्टि में आज से ज्यादा बीता हुआ समय स्वर्णिम होता है, तथा आने वाले समय की गति से वह कॉप उठते हैं। अतीत में रमने वाला प्राणी अतीतकालीन ही मन, वचन और कर्म से हो जाता है, परंतु न जाने क्यों यह बात वृद्धजन स्वीकार ही नहीं करते। अपने को भुलावे में बनाए रखने के लिए वृद्धजन परसेवा का जो स्वांग रचते हैं, उनकी भी सारी बातों का खुलासा उन्हीं के साथ उठने-बैठने वाले संगी-साथी वृद्धजन ही करते हैं।

'कुछ अपनी कुछ पराई' के अंतर्गत लेखक ने मनोरंजक पूर्ण शैली में वृद्धावस्था से सम्बन्धित मनःस्थितियों पर अपने विचारों को स्पष्ट कर उन पर प्रकाश डाला है। जैसे - "आ के जाय जो वह जवानी देखी और जो आ के न जाय वह बुढ़ापा देखा। मेरे लिए असंभव इस संसार में कुछ भी नहीं है। मैं अपने से दूर ही नहीं, बहुत दूर तक भाग सकता हूँ। कहो तो भागकर दिखाऊँ। बुड्ढा सठिया गया है, शायद इसका दिमाग ठिकाने में नहीं है। यह भी कोई भाग-दौड की उम्र है। अरे रोको इसे। कहीं गिर पड़ा तो उठाकर अस्पताल पहुँचाना पड़ेगा। होश ही रहा तो जवानी कैसी। जवानी अँधी होती है। यह सिर्फ अपने को देखती है। छड़ी बड़े काम की चीज है, गड्ढों और ऊबड़-खाबड जमीन का यह एहसास कराती है; गति को यह सहारा देती है;कुत्तों को दूर भगाती है; और गायों-भैंसों आदि अन्य जानवरों से भी यह रक्षा करती है। इसे सदा साथ रखना चाहिए.... ये बाल धूप में नहीं सफेद हुए हैं, इन आँखों ने दुनिया देखी है। इस देह की इन झुर्रियों ने असंख्य शीत-ताप सहे हैं। इन्हीं टाँगों ने न जाने कितनी बार धरती का ओर-छोर नापा है। क्या नहीं किया है इन हाथों ने। जीवन की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को हँसते-हँसते झेला ही नहीं है, उन्हें समान-भाव से ग्रहण भी किया है। वाह! क्या जमाना था। कैसे-कैसे लोग थे! कैसी-कैसी बातें थी! कैसे सुनहरे दिन थे वे। काश! कोई लौटा सकता उन्हें !.... हाथ-पैरों के जोड़ों की जकडन अनुमति नहीं देती कि उन्हें जवानी की भाँति प्रयोग में लाया जाए। विरल बालों की बिदा होती कालिमा नहीं कहती कि

कृत्रिम कालिमा द्वारा जवान होने के धोखे में दूसरों को रखा जाय। वृद्धावस्था की क्षीण होती दृष्टि नहीं चाहती कि जीवन-जगत की शेष गन्दगी को और अधिक कृत्रिम साधनों के द्वारा देखा जाय। हिलते-गिरते दाँतो में कठोर भोज्य पदार्थों को चबा न पाने के सामर्थ्य के अभाव का स्पष्ट अभिप्राय है कि शरीर की पाचन-क्रिया पर अतिरिक्त बोझ न डाला जाए। हृदय को जो कि आधुनिक विज्ञान में रक्त का पम्पिंग स्टेशन मात्र माना जाता है, भारतीय धारणा के अनुसार संवेगों और भावनाओं का केन्द्रस्थल मान भी लिया जाय तो भी उसमें संवेगों और भावनाओं के आलोड़न-विलोड़न की वह सामर्थ्य नहीं रहती है, जो पूर्वावस्थाओं में अनूभूत होती है। किन्तु स्वादेन्द्रिय अवश्य सशक्त बन जाती है। और बने भी क्यों न। बत्तीसों दाँतों की शक्ति भी तो वह छीन लेती है। किसी भी समारोह में भोज्य पदार्थों के स्वादिष्ट घोषित करने का अधिकार एक मात्र वृद्धजनों का ही माना जाता है।.... वृद्धावस्था में एक विचित्र बात और होती है कि असावधानी का एहसास तो होता है, किन्तु उसे स्वीकारने का मन नहीं करता। परन्तु, वृद्धजनों का कहना है कि मन कभी वृद्ध नहीं होता। वह सदा जवान रहता है। सम्पूर्ण आस्था और विश्वास का केन्द्र बिन्दु विगत बन जाता है। 'ओल्ड इज़ गोल्ड' (अतीत स्वर्ण है) वृद्धों द्वारा एक ऐसा महामन्त्र बना लिया गया है।"[33]

वृद्धों का साक्षात्कार करते-करते लेखक की मनःस्थिति भी वृद्धमय हो उठती है। लेखक ने इस रचना में वृद्धजन के साक्षात्कार के दौरान उनके विचारों को भी स्पष्ट किया है। जैसे- वृद्धावस्था की प्रशंसा करते हुए लेखक कहता है - "थोड़े भोजन से काम चल जाता है। संतोष सदा मन में निवास करता है। हवस समाप्त हो जाती है। सादगी भरा जीवन हो जाता है। बन-संवर कर इधर-उधर भटकने से समय नष्ट नहीं होता है। अपव्यय की आदत से छुटकारा मिल जाता है। सावधानी पर ध्यान केन्द्रित रहता है, पग सम्हल-सम्हल कर पड़ता है। गलती के अवसर कम हो जाते हैं। सन्देह की दृष्टि से वृद्ध परे माना जाता है। इश्क-मोहब्बत के चक्कर से सदा के लिए छुट्टी मिल जाती है। शिक्षक और उपदेशक के पद की गरिमा से वृद्धावस्था गौरवान्वित होती है। सोच-विचार कर कार्य करने का अभ्यास बन जाता है। विवेक सम्पन्नता में सम्वृद्धि हो जाती है। समय की महत्ता समझ में आ जाती है। अनुभव से दूसरों को लाभान्वित

करने के सौभाग्य से वृद्धावस्था अभिमंडित हो जाती है। त्याग और तपस्या के प्रति रुझान जागृत हो उठता है। व्यक्तिगत व्यय में इतनी कमी आ जाती है कि कभी-कभी लगता है कि अपने ऊपर से तो कुछ खर्च हैं ही नहीं। पेंशन या ब्याज के रुप में जो रकम मिल जाती है, वही आवश्यकता से अधिक प्रतीत होती है। जितना सोचोगे, वृद्धावस्था उतनी ही महत्वपूर्ण प्रतीत होगी। सुख महत्ता की अनुभूति में ही तो सन्निहित होता है और इस अनुभूति की प्रचुर मात्रा वृद्धावस्था में ही होती है।"[34]

अभिनन्दन को लेखक वृद्धावस्था का श्रृंगार मानता है। समय तथा स्वास्थ्य के सदुपयोग पर लेखक बल देता है। एक स्थान पर लेखक ने एक वृद्ध लेखक के लेखन सम्बन्धी विचारों को बड़ी ही स्पष्टता प्रदान करते हुए बताया है। जैसे - "मैं अत्यंत स्पष्टवादी लेखक हूँ। लाग-लपेट में मेरी आस्था नहीं है। जो भी मेरे विचार या भाव होते हैं, मैं उन्हें स्पष्ट रुप में लेखनी द्वारा कागज पर उतार देता हूँ। मुद्रित होने पर लोग उन्हें पढ़ते हैं। कुछ प्रशंसा करते हैं, और कुछ नाक-भौं भी सिकोड़ते हैं। मुझे कभी किसी की चिंता नहीं रही। जो मुझे लिखना होता है, लिखता हूँ, और जो मुझे कहना होता है, कह डालता हूँ, किसी को भला लगे या बुरा। वैसे लेखक को मौन रहना चाहिए। लेखक मौन सम्भाषण ही तो होता है। अनुभवसिद्ध तथ्य यह है कि अधिक बोलनेवाला महान लेखक नहीं होता है। लेखन एक तपस्या है, साधना है। साधना और तपस्या के लिए एकान्त ही नहीं, मौन भी अपेक्षित होता है। हॉ, उन आत्मप्रचारी लेखकों की बात दूसरी है, जो कम लिख पाने पर भी आत्मप्रचार के बल पर महान लेखक बनने के अभिलाषी होते हैं। मैं न कहीं जाता हूँ और न अधिक बोलता ही हूँ, मात्र लिखता हूँ। जो भी समय मिल जाता है, लेखन में उसका सदुपयोग करता हूं।"[35]

वृद्धावस्था में अनुरक्ति आकर्षक, स्वाभाविक, प्रिय और अपरिहार्य-सी लगती है। इन सभी व्यावहारिक निष्कर्षो द्वारा लेखक ने ऐसे अनुभवगत सत्यों को इस रचना 'पितामह' में उल्लेखित किया है, जिनकी अनुभूति मनुष्य पग-पग पर कर सकता है, क्योंकि वृद्धजन हर युग में हुए हैं, वर्तमान में भी हैं, और भविष्य में भी रहेंगे। मेरे स्वयं के विचारानुसार यह बात

स्पष्ट है कि वृद्धावस्था का सम्बन्ध आयु से नहीं होता, बल्कि दुर्व्यसनी और अपव्ययी मनुष्य तो समय से पहले अर्थात् किसी भी आयु में वृद्ध हो जाता है। वृद्धावस्था परिणति है - समय, साधन व शक्ति के दुरुपयोग की। जीने योग्य जीवन के लिए आत्म-संयम सबसे उत्तम माना गया है, जो लोग इसका परिपालन करते हैं, वे कभी वृद्ध नहीं होते।

डॉ. त्रिपाठी की यह रचना 'पितामह' वृद्धावस्था को लेकर लिखी गई है। जिसमें लेखक ने अन्य वृद्धजनों के साक्षात्कार व विचारों को प्रस्तुत रचना में स्पष्ट किया। किन्तु अन्त में, लेखक ने वृद्धावस्था के सम्बन्ध में अपनी धारणाओ को भी व्यक्त करता है - जैसे - "वृद्धावस्था को यथावत रुप में स्वीकारने में ही सुख है, वृद्धावस्था में कोई किसी का साथ नहीं देता। इस अवस्था में धैर्य और सहिष्णुता का अभाव हो जाता है। वृद्धावस्था में लालसा बलवती हो उठती है। अनुभूति जन्य ज्ञान इस अवस्था की बड़ी विभूति होती है। वृद्धावस्था आदतों की शिकार होती है। बुढापा बीमारियों का घर होता है, वृद्ध व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सावधान होता है। वृद्धजनों के मुँह से प्रायः निराशाजनक उद्‌गार सुनने को मिल जाते हैं। वृद्धजन अपने को समझ का ठेकेदार मानते हैं।"[36]

डॉ. त्रिपाठी की अगली कृति विचार-प्रधान शैली में लिखी गई रचना 'कौन, किसका, क्या' है। इस रचना में लेखक ने उन रचनाधर्मियों को केन्द्रस्थ बनाया है जो जीवनभर सफलता और विफलता की अडोल स्थिति में बने रहते हैं। और दिशा-बोध की कमी के कारण कमजोर आशा की डोर के सहारे रचना धर्म-मुक्त जीवन ढोते रहते हैं। लेखक ने इस संसार में पूर्ण भाग्यवादी दो ही प्रकार के लोगों को माना है -नितान्त निर्धन या फिर सर्वाधिक सम्पन्न और इनसे इतर लोग भाग्य को मात्र बहाने के रुप में ही ग्रहण करते हुए चलते हैं।

इस संसार में 'कौन, किसका, क्या' है - यह विवादों में उलझी एक पहेली की तरह है, जो मानव-जीवन में आदिकाल से चली आ रही है। इस लम्बी यात्रा का अन्त भी शायद मानव के साथ ही होगा। यहाँ पर कौन किसका क्या लगता है यह परम्परागत रीति-रिवाजों और

मान्यताओं के आधार पर तय होता है। परन्तु कौन किसका कब तक बना रहता है, यह कभी निश्चित नहीं हो पाता, जिसके कारण मनुष्य इसी भ्रम में जीता रहता है कि यहाँ सभी अपने हैं, या फिर सभी पराए। संयोगवश, इस जीवनकाल में जो भी मिल जाता है, वह अपना-सा प्रतीत होने लगता है, और कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि यही अपनेपन की प्रतीति पराएपन के गर्भ में समाहित हो जाती है। प्राचीन मान्यता के अनुसार एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'जो मिल गया वह भाग्य का चमत्कार' है।

'कौन, किसका, क्या' रचना का नायक है लेखक और नायक का नौकर विरलू। विरलू सेवाभाव की साक्षात् प्रतिमूर्ति है, उसने अपने सेवा के बल पर लेखक के साथ इतनी अन्तरंगता हासिल कर ली है, कि वह हर तरह की बातें लेखक के सामने कह सकता था, चाहे वह उसके निजी जीवन से ही क्यों न जुडी हों। विरलू के यह विगत जीवन की बातें लेखक को कुछ-न-कुछ लेखन सामग्री जुटाने में मदद भी किया करती थी। जैसा कि मैंने पहले ही बताया है कि रचनाकार ही इस रचना का नायक है, और उसका धर्म लेखन-कार्य है, उसके जीवन में एक भी है विरलू। परन्तु एक नारी का लेखक के जीवन में अनायास ही प्रवेश होता है, जिसका नाम अनामिका है। उस महिला का अपनापन और लेखक की सेवादि भाव उन्हें एक-दूसरे के करीब पहुँचा देते हैं कि जिसके स्वरुपों को निर्धारण कर पाने में लेखक असमर्थ -सा प्रतीत लगता है। इस रचना के अन्त में दो युवक-बढ, चढ और दो युवतियॉ - सीधी, सादी - रचनाकार के दर्शन हेतु उपस्थित होते हैं, उनके निश्छल, मधुर और अकृत्रिम व्यवहार लेखक को बहुत प्रभावित करता है, किन्तु यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि कौन किसका क्या है, जिसका जो मन चाहे वैसा मान ले। इस उक्ति पर लेखक अपने विचारों को प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि कभी-कभी कुछ नहीं को भी मनुष्य अपना सर्वस्व मान लेता है, और कभी-कभी सब कुछ होने पर भी ऑखें मूँद कर निस्सारता की अनुभूति करता है। मेरे स्वयं के विचारानुसार यहॉ बात सिर्फ मान्यता की है शायदइसी कारण रचनाकार बन्धनविहिन स्वच्छन्द आचरण में विश्वास रखता है, क्योंकि बंधनयुक्त जीवन कष्टदायी होता है, और उसमें सुरक्षात्मक अनुभूति भी कम होती है, और साथ ही ऐसा भी माना गया है, कि सम्बन्धों के मूल में मात्र सुरक्षा ही होती है।

अन्त में, इस रचना में डॉ. त्रिपाठी ने लेखकीय मनःस्थितियों द्वारा उन विचारों को भी चित्रित करने की चेष्टा की है - कि इस जीवनकाल में कोई भी गैर नहीं हैं, बल्कि सभी अपने हैं। अगर इस विचार-सूत्र को जीवन में व्यावहारिक तौर पर अपना लिया जाए, तो यह पराएपन का भेदभाव सदा के लिए मिट जाए। रचनाकार ने अपनी इस पूरी रचना में पात्रों के निच्छल और स्वच्छन्दतापूर्ण आचरण को आधुनिकता के स्वर में सफल चेष्टा प्रदान करने का भरसक प्रयास किया है, और साथ ही परम्पराओं तथा मान्यताओं से बन्धनविहिन जीवन को ही सुखद माना है।

कथाकार वाल्मीकि त्रिपाठी द्वारा रचित 'कैसा-दोराहा' एक विचार-प्रधान रचना है। जिसमें रचनाकार ने एक ऐसी दुविधाग्रस्त नारी का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है, जो जीवन के दोराहे पर खडी है, और भुक्त-भोगी होकर भी यह समझ पाने में असमर्थ है कि यह दोराहा कैसा है।

'कैसा दोराहा' नामक रचना आधुनिक जीवन की उन मनःस्थितियों को भी चित्रित करता है, जिसमें व्यक्ति यह निश्चित नहीं कर पाता कि वह जाए तो कहाँ जाए। असहनीय परिस्थितियों के कारण मनुष्य यहाँ-वहाँ भागता ही रहता है, परन्तु बीच में आते व्यवधानों के कारण वह फिर असमंजस में पड जाता है, कि अब आगे क्या होगा। इस रचना की नायिका 'दिशा' एक नव-विवाहिता नारी है, जो जीवन के परम्परागत वैवाहिक स्वरुप को स्वीकार तो कर लेती है, परन्तु पति के घर व परिवार की परम्पराओं और मान्यताओं के अनुकूल आचरण न कर पाने की असामर्थ्य के फलस्वरुप वह बन्धनविहिनता की उत्प्रेरक मनःस्थितियों के कारण भाग खडी होती है, किन्तु फिर भी वह अधिकांश नारियों की भाँति इस दुविधा में पड़कर अचानक रुक जाती है, और अनिर्णयात्मक मनःस्थिति के दायरे में उलझकर न वह इस परम्परागत स्वरुप को पुनः स्वीकारने के लिए पीछे लौटती है, और न भावी चुनौतियों का सामना करने के लिए आगे ही बढ पाती है, बल्कि ऐसे हालात में खडे होकर सोचने पर मजबूर हो जाती है, कि यह दोराहा कैसा है।

रचना के 'अन्तर्नाद' में लेखक ने सुख-दुःख की इन्हीं मनःस्थितियों का बड़ा ही तलस्पर्शी विवेचन किया है - "देखो और समझो, यही है मेरा वास्तविक रुप। मेरे पीछे न भागते तो मैं तुम्हें इस रुप में न जकड़ता। जितना मुझे तुमने दौड़ाया है, उतना ही प्रयास मैं अब तुमसे कराऊँगा उनसे मुक्ति के लिए, और मुक्ति का वह पल ही मेरे अस्तित्व की अनुभूति का क्षण होगा। मत भागो मेरे पीछे। मैं तो स्वतः तुम्हारे निकट आने को लालायित हूँ, मगर तुम्हें दुःखों से छुटकारा मिले तब न। पहले दुःख के जंजाल से अपने को तो मुक्त करो। वह मुक्ति ही मेरा रुप है। मुझे अन्यथा रुप में मत देखो। मुझे मेरे वास्तविक रुप में जानो-समझो। नासमझ मानव! मुझे बाहर मत देख। मैं तेरे भीतर हूँ। मेरी उपस्थिति को अनुभव कर। सुख अनुभूति में है, उसके पीछे दौड़ने में नहीं। जो दौड़ रहे हैं, उन्हें दौड़ने दे। उनका अनुकरण मत कर। वे थककर बैठ जाएँगे। मुझे पाएँगे नहीं। मैं स्वयं तेरे पास हूँ। तू मुझे पहचान नहीं पा रहा है। मेरी सहज पहचान है संतोष। संतोष में ही सुख सन्निहित रहता है। तू संतोष धारण कर। मेरे अस्तित्व की अनुभूति तुझे स्वतः हो जाएगी।"[37]

इसी सुख-दुःख के पाटों के बीच पिसती नारी जीवन की यह व्यथा कथा है, जिसे लेखक ने रचना के मुख्य चरित्र में दिशा की अपनी मनोव्यथा के रुप में अभिव्यक्ति प्रदान की है। रचनाकार ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त नारी की उस मनःस्थिति को भी चित्रित किया है, जिसका सम्पूर्ण जीवन आधुनिक शिक्षा से उद्भूत काल्पनिक जीवन और परम्परागत व्यवहारिक स्वरुप के बीच फँसकर रह गया है। उपलब्ध शिक्षा की निरर्थकता को स्वीकृति प्राप्त नहीं हो पाती और परम्परागत मान्यताओं और स्वरुपों को नायिका स्वीकार नहीं कर पाती। परिणाम यह निकलता है कि वह शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान और असहनीय व्यावहारिक स्वरुप के कारण दोराहे पर खडी हो जाती है। माँ-बाप के घर खुले विचारों से विचरण करने वाली नारी जब विवाह के सूत्र में बँधकर दूसरे परिवार की सीमाओं में कैद हो जाती है, तब वह यही सोचने पर विवश हो जाती है, कि नारी जीवन भी क्या जीवन है, जो दो परिवारों के बीच जीने के लिए विवश हो जाता है। हर नारी अपने भावी जीवन के काल्पनिक सुख में विचरण करती है, परन्तु

जब यथार्थ जीवन के कष्टपूर्ण पलों का सामना करना पड़ता है, तो हर किसी की अन्तर्तात्मा से एक ही स्वर प्रस्फूटित होता है, कि यहाँ से 'भाग जाओ' - तोड़ दो सभी बन्धनों को, भंग कर दो मान्यताओं को जो स्वच्छन्द जीवन-यापन में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

समाज में फैली इन्हीं परम्पराओं, संस्कारों और मर्यादाओं का रचनाकार ने भी घोर विरोध किया है, और यह विश्वास प्रकट करते हुए कहा है - "ये सब बन्धनों के विविध रुप हैं, और सभी रुप नारी को परतन्त्र बनाए रखने के लिए हैं। परतन्त्रता सदा विकास-विरोधी स्थिति होती है। इसी स्थिति विशेष में नारी को जकड़कर रखना चाहता है पुरुष। पुरुष प्रधान समाज के ये प्रबल शस्त्रास्त्र हैं। इन्हीं के सहारे पुरुष ने नारी को सदा परतन्त्रता की श्रृंखलाओं में जकडा है। इस शती की आधुनिक नारी ने इन श्रृंखलाओं की जकड़न के कष्ट को समझा और इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई जो पुरुष जाति को अनुचित प्रतीत हुई।"[38]

इस रचना की कथा की मूल-चेतना नारी का विद्रोहात्मक स्वर है, जो सदियों से चली आ रही दासता के प्रति रहा है। बन्धन मुक्ति की अनुभूति रचनाकार ने हमें इस रचना के द्वारा करायी है। इसी बन्धन मुक्ति को व्यावहारिकता प्रदान करते हुए लेखक ने अपनी रचना 'कौन, किसका, क्या' हैं में भी पाठकों को बताया है। यह दोनों ही रचनाएँ दो राहों की पथ-प्रदर्शिकाएँ हैं।

जैसा कि विगत विश्लेषण से स्पष्ट किया गया है, कि कथाकार डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने भले ही कथानक के रुप में ऐतिहासिक घटनाओं को संकलित एवम् संगृहित किया है, किन्तु शिल्प और प्रस्तुति के क्षेत्र में उनकी दृष्टि बहुआयामी रही है, जहाँ एक ओर वह किसी विशेष समाज, परिवार या राजघराने की अंतरंग गाथाओं को उजागर करते हैं, वहाँ दूसरी ओर इन गाथाओं के गर्भ में छिपे ऐसे अनेक रहस्यों को भी प्रकट करते हैं, जो समसामयिक सन्दर्भों में भी प्रत्यक्ष होते दृष्टिगत होते हैं। स्वतन्त्रता के बाद जनतांत्रिक परिवेश में राजशाही और सामन्तशाही को जब नामशेष कर दिया गया, तब उनका सम्पूर्ण माहौल भी उनके साथ

धराशयी हो गया। इस प्रकार बदलते हुए परिवेश को बडे ही सतर्कता से एवम् अनुकूल सन्दर्भो के साथ संतुलित करते हुए त्रिपाठी जी ने अपने कथा-साहित्य की अभियोजना तैयार की है। सामाजिक विसंगतियों, राजनैतिक षडयंत्रों, पारिवारिक दुष्चक्रों आदि के विभिन्न पड़ावों पर होता हुआ, उनका कथानक अनेक संगत निर्धारणों व अविधारणाओं को स्थापित करता हुआ अग्रसर हुआ है। डॉ. त्रिपाठी का कथा-सोच समसामयिक परिस्थितियों की व्याख्या करता हुआ सा अपने कथाक्रम को निबन्धित करता रहा है।

सन्दर्भ – सूची

1. कथा–साहित्य के सौ बरस – विभूति नारायण राय – साम्प्रदायिकता, देश–विभाजन और हिन्दी उपन्यास – चमनलाल – पृष्ठ – 135
2. वही वही – पृष्ठ – 136
3. वही – हिन्दी कथा साहित्य में दलित – जयप्रकाश कर्दम – पृष्ठ – 195
4. वही वही – पृष्ठ – 197-198
5. फिलहाल – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी– पृष्ठ – 61
6. वही वही – पृष्ठ – 175-176
7. वही वही – पृष्ठ – 82
8. शून्य – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी– पृष्ठ – 9
9. वही वही – पृष्ठ – 17
10. वही वही – पृष्ठ – 59
11. उपेक्षिता – यही है – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी–
12. वही वही – पृष्ठ – 302
13. शिकायत –डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 6-7
14. वही वही – पृष्ठ – 10
15. वही वही – पृष्ठ – 10
16. वही वही – पृष्ठ – 14
17. जिएँ तो जिएँ कैसे – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 3
18. वही वही – पृष्ठ – 7
19. वही वही – पृष्ठ – 179
20. भ्रष्टाचार –डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी– पृष्ठ – 4
21. वही वही – पृष्ठ – 17
22. वही वही – पृष्ठ – 25-26
23. वही वही – पृष्ठ – 27-28
24. वही वही – पृष्ठ – 296
25. दम्पत्ति–डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी– पृष्ठ – 150
26. वही वही – पृष्ठ – 167
27. वही वही – पृष्ठ – 249
28. वही वही – पृष्ठ – 249-250

29. वही वही - पृष्ठ - 398
30. वही वही - पृष्ठ - 249
31. पितामह - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी- पृष्ठ - 186-187
32. वही वही - पृष्ठ - 11-12
33. वही वही - पृष्ठ - 9-15
34. वही वही - पृष्ठ - 121-122
35. वही वही - पृष्ठ - 48-49
36. वही वही (अंत से) - पृष्ठ - 179-187
37. कैसा दोराहा - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी- पृष्ठ - 6-7
38. वही वही - पृष्ठ - 137-138